

ज्ञात अज्ञात

व्रजेश दवे

हिन्दी कथाएं

ज्ञात अज्ञात

व्रजेश दवे

आठ कथाओं का संग्रह

ज्ञात अज्ञात

[हिन्दी वार्ता संग्रह]

- व्रजेश दवे

समर्पित

आपको

आमुख

क्या आप मुझे जानते हो? क्या मैं आपको जनता हूँ? क्या कोई व्यक्ति या वस्तु या स्थिति आपको ज्ञात है? आप अवश्य ही 'हां' में उत्तर देंगे। यह सहज है। किन्तु क्या हमें वह सब ज्ञात होता है?

नहीं।

हम जिसे जानने का विश्वास रखते हैं वह केवल हमारा दंभ होता है, भ्रम होता है। मेरी इस बात को आप नहीं मानते हो न? आपके पास नहीं मानने के पर्याप्त कारण होंगे। होने भी चाहिए।

किन्तु जो बात या व्यक्ति हमें ज्ञात होता है वह समय आने पर ऐसे प्रस्तुत होता है कि वह हमें अज्ञात सा लगता है। जैसे हम जिसे जानते थे वह कुछ भिन्न ही था।

ज्ञात क्या होता है? वही जो हमारे समक्ष उपस्थित हो या उपस्थित किया गया हो। मनुष्य या प्रकृति या नियति कभी अपने आप को किसी के भी सम्मुख पूर्ण रूप से अनावृत नहीं करते। स्वयं को अनेक आवरणों से ढँक लेते हैं। क्या हम भी यही नहीं करते? हमारे मन को कौन जानता है? कभी कभी हम भी अपने आप को नहीं जान पाते हैं। यह स्वाभाविक है।

किन्तु जब समय अपना खेल खेलता है तब वह उन सारे आवरणों को क्षण भर में हटा देता है और हमारे प्रत्यक्ष जो होता है वह होता है - अज्ञात! पूर्ण रूप से अज्ञात। जिसे हमने कभी देखा नहीं होता है, जिसकी हमने कभी कल्पना भी नहीं की होती है। वह अज्ञात हमें चौंका देता है। कभी सुख देता है तो कभी आहत कर देता है। छलनी छलनी कर देता है।

ऐसे ही आपके परिचित ज्ञात से अपरिचित अज्ञात से मिलन कराने के लिए मैंने यह आठ कथाएं प्रस्तुत की है। प्रत्येक घटना आपका परिचय कराएगी एक नए अज्ञात से।

कंटेनर, राजगीर का संजय, लेखक पवन, अज्ञात चौथा व्यक्ति, रावण, विशाल, विस्मय, और तिलोत्तमा। ऐसे ही अज्ञात हैं यह सभी।

इन सभी से मिलिये। उन्हें मिलकर आपको मेरा नाम भी अज्ञात लगने लगेगा।

धन्यवाद।

व्रजेश दवे

टोरोन्टो, केनेडा।

01/01/2026.

9426041107 (भारत), dave.vrajesh@gmail.com

ज्ञात - अज्ञात

(हिन्दी कथा संग्रह)

व्रजेश दवे

कथाओं की सूची

[1] कंटेनर जल रहा है

ठक ..ठक .. ठक ..।

गाड़ी की खिड़की के कांच पर तीन बार घात हुआ। मोहन ने कांच को आधा खोला और बाहर देखा। रेलवे पुलिस के इंस्पेक्टर का कठोर चेहरा दिखाई दिया।

रात के साढ़े तीन बजे थे। एक बंद गाड़ी में तीन पुरुषों का अकेले बैठना इंस्पेक्टर को विचित्र सा लगा।

“आप सभी गाड़ी से बाहर आ जाइए।” इंस्पेक्टर ने आदेश दिया। तीनों स्मरणों के खुमार से जागे। गाड़ी से बाहर निकल आए।

“पूरी तलाशी लो इस गाड़ी की।” पुन: आदेश दिया ऊसने। दो कॉन्स्टेबल गाड़ी को सभी दिशाओं से, सभी कोने से तलाशने लगे।

विनय, जावेद और मोहन तीनों इंस्पेक्टर के सामने खड़े थे। मौन, चुप चाप। मस्ती करते पकड़े गए बच्चे जैसे प्रिन्सपाल के सामने खड़े रहते हैं वैसे ही वे तीनों खड़े थे। इंस्पेक्टर उन्हें संशय की दृष्टि से ऊपर से नीचे तक देखने लगा।

‘प्रथम दृष्टि से तो ये तीनों अच्छे घर के लगते हैं। कपड़े भी अच्छे पहने हैं और व्यक्तितत्व भी अच्छा दिख रहा है।’

‘किन्तु अच्छे लग रहे लोग ही आज कल संदेहास्पद होते हैं। सभी गंदे काम ऐसे लोग ही करते हैं। और मान भी लूँ कि ये सब अच्छे व्यक्ति हैं तो भी इस एकांत में, इतनी रात बीते यहाँ क्या कर रहे हैं?’

“साहब, गाड़ी में सब कुछ ठीक लगता है। लगता है शरीफ लोग हैं।” एक कॉन्स्टेबल ने आकर इंस्पेक्टर की विचार यात्रा को रोका। उसने मुख की कठोरता को थोड़ा काम करते हुए स्मित किया।

उस स्मित को देख तीनों निश्चिंत हो गए। उन्होंने भी स्मित से उत्तर दिया। हवा की एक लहर आकर चली गई।

मोहन ने एक दृष्टि इंस्पेक्टर पर डाली। उसे लगने लगा कि यह चेहरा कुछ परिचित सा है, कहीं देखा हुआ है। उसने इंस्पेक्टर के नाम को पढ़ा, ‘अविनाश सिंह।’

जावेद और विनय की तरफ मुड़कर मोहन ने उस नाम को पढ़ने को कहा।

दोनों ने पढ़ा, “अविनाश सिंह।”

“आप बीड़ी पीओगे, इइन्स्पेक्टर अविनाश सिंह?” जावेद ने उसे बीड़ी दी।

“बीड़ी?” अविनाश चौंका। “मैं इंस्पेक्टर हूँ? आप लोग कौन हो? यहाँ इतनी रात गए क्या कर रहे हो?” बीड़ी देखकर वह चिड गया।

“अविनाश सिंह, वो सब बाद में बताएंगे। आप गुजराती अच्छी तरह से जानते हो तो हम गुजराती में बात करें तो?” विनय की आँख और शब्दों में चमक आ बसी।

“किन्तु ऐसा है न कि पुलिस बन जाने के बाद हिन्दी बोलना पड़ता है। किन्तु मैं गुजराती जानता हूँ वह आपको कैसे पता है?” वह विस्मित हो गया, सावध भी।

“सत्रह वर्ष पूर्व, यहीं इसी ट्रेक पर .. आप? कुछ स्मरण हो रहा है?” मोहन ने उसके चेहरे पर प्रश्न के साथ साथ बात आधी ही छोड़ दी।

“हाँ, सत्रह वर्ष पूर्व मैं यहीं था। नया नया सब इंस्पेक्टर बना था, किन्तु...?”

“उस चोटी पर तीन लड़के बैठा करते थे और आप वहाँ समय मिलने पर आ जाते थे।” जावेद ने स्मरणों की उस चोटी की तरफ हाथ करते हुए कहा।

“और किशोर कुमार का वह आप का प्रिय गीत- पल पल दिल के पास तुम रहती हो - गाया करते थे।” विनय उसे स्मरणों की चोटी तक ले गया।

“और उन तीनों के साथ बीड़ी पीते थे?”

“हाँ। मुझे सब स्मरण है। किन्तु वे तीनों तो मेडिकल कॉलेज के विद्यार्थी थे। वे तो डॉक्टर बन गए...।” इंस्पेक्टर स्मरणों की चोटी के शिखर पर जा पहुंचा।

“वे तीन डॉक्टर हम ही हैं तीनों। यह जावेद, वो मोहन और मैं विनय। याद आया अविनाश सर?”

“अरे भिडू, अपन को सर नहीं बोलने का रे...।” अविनाश अब इंस्पेक्टर से पक्के मित्र के रूप में आ गया। उसने बीड़ी ले ली।

सत्रह वर्ष पूर्व के वे दिन, वो साँझ, वो मिलना। उसे सब स्मरण हो आया। वह उन स्मरणों में चला गया, बहुत कुछ स्मरण हो आया उसे। वह बीड़ी पीता रहा। उसके धूम्र वलयों में स्मरणों के आकार बनते गए। वह उन पुराने स्मरणों को और मित्रों के सहवास को भोगना चाहता था किन्तु सहसा अविनाश का फोन बज उठा। सब से अनुमति ले वह चला गया।

तीनों गाड़ी से बाहर ही खड़े रहे। शीतल पवन सभी को छूती थी, भाति थी। तीनों कुछ समय तक वैसे ही खड़े रहे, मौन। शांत।

सहसा विनय दाहिनी ओर गया। आठ दस चरण चलकर उसने एक पत्थर हाथ में लिया और पूरी शक्ति से उछाल दिया एक कंटेनर की तरफ।

कंटेनर!

वर्षों से वह कंटेनर वहीं खडा है। सत्रह वर्ष पूर्व भी वह वहीं था। आज भी वहीं है। किसी दुर्घटना में जल गया था। पश्चात वह वहाँ से हिला तक नहीं। विनय की भांति।

विनय भी भोग चुका था एक दुर्घटना को। तब से वह भी इसी नगर में स्थिर हो गया था। एक मूर्ति की भांति। वह कंटेनर की भांति। अकेला, अविवाहित।

किन्तु, जल कर राख हो गए कंटेनर के पीछे विनय के प्रेम की ज्वालाएं अभी भी जल रही थी, चुप चाप, मौन।

उस बात को आज सत्रह अठारह वर्ष बीत गए। किन्तु उसके मन में वह प्रेम अभी भी बसा हुआ था। वह प्रेम आज सत्रह अठारह वर्ष का हो चुका था। कोई मुग्धा जैसा, कोई यौवना जैसा चंचल। वह सरक गया उस कंटेनर की तरफ।

उस दिन यास्मिन उसे मिलने को आ रही थी। यही काले जले कंटेनर के पास मिलना दोनों ने स्वीकार किया था। जावेद और मोहन कहीं नगर से बाहर थे और वह अकेला ही था। इसी कारण तो वह मिलन इस कंटेनर के पीछे निश्चित हो सका था।

यास्मिन!। लंबी थी। शरीर का रंग थोड़ा सांवला सा, किन्तु मादक। उतना ही मोहक था उसका देह लालित्य।

लंबे केश। उन केशों से वह दो चोटीयां बांधती थी। दोनों चोटियों को वह कंधे से आगे रखती थी। छाती की दोनों तरफ रखती थी। उसे देखनेवाले के लिए उन चोटियों से दृष्टि चुराना असंभव था।

यास्मिन के शरीर के अंग अंग पूर्ण रूप से नाप नाप कर बने थे। तन में एक भी कोश न अल्प न अधिक। सभी सपर्माण। उसकी नसों में बह रहा रक्त भी नाप कर बहता था।

विनय सोचता 'शरीर शास्त्र में शरीर के प्रत्येक अंग का जो आदर्श नाप निश्चित हुआ होगा वह यास्मिन को देखकर ही किया होगा। शरीर शास्त्र के इतने सारे ग्रंथ पढ़ने से तो अच्छा होता यास्मिन को ही देख लेना। शरीर की सारी रचना स्वत: कंठस्थ हो जाती।' वह ऐसा ही करता था।

यास्मिन की चाल में सदैव यौवन उछला करता था, नृत्य स्वयं आ बसता था। किन्तु कहीं भी, कभी भी छलकता न था।

किन्तु यास्मिन का व्यक्तित्व, उसके उछलते यौवन से बिल्कुल भिन्न था। यास्मिन अर्थात एक शांत झरना। सदा बहता रहे किन्तु कोई धमाल नहीं। कोई कोलाहल नहीं।

यास्मिन अल्प बोलती। होंठों के बदले उसकी आँखें अधिक बातें करती। उस आँखों पर कानों को रख दो तो अविरत कुछ न कुछ सुनाई देता। सतत बहते झरने की ध्वनि जैसी बोलती आँखें थी उसकी।

दोनों अधर सुंदर थे किन्तु कवचित ही खुलते थे। वे खुलते तो केवल विनय को आहत करते स्मित देने को। कंटेनर के समीप पहुँच गया, विनय। प्रतीक्षा करने लगा, यास्मिन की। वह आई। उसने बुरखा पहेना हुआ था, काले रंग का। आते ही उसने बुरखा हटा दिया। आज वह बिल्कुल भिन्न दिख रही थी। अपने व्यक्तित्व से विपरीत थी वह।

उसने काले रंग का टॉप पहिना था। नीचे घुटनों से भी लंबा गुलाबी स्कर्ट पहिना था। उसकी चाल भी आज भिन्न थी। उसके एक एक चरण पर गुलाबी स्कर्ट घूम रहा था। वलयों को उत्पन्न कर रहा था। वे वलय विनय के मन में तरंगें जगा रहे थे। विनय उन वलयों में उलझ गया। उसे प्रतीति होने लगी कि गुलाबी स्कर्ट के वलय गुलाबी नहीं हैं।

वह आ गई विनय के निकट। आज उसकी आँखें क्या बोल रही है उसे सुनने के लिए विनय ने उसकी आँखों में आँखें डाल दी। किन्तु आज वे आँखें कुछ नहीं बोल रही थी। वे तो थीं चुप। आज अधरों पर कोई स्मित नहीं, किन्तु शब्द थे। केवल शब्द।

युगों से बंदी रहे शब्द आज सभी दीवारें तोड़कर वेग से अधरों से निकलने लगे।
“विनय। यह अंतिम मिलन है हमारा। बस अब हम...।” वह बोलने लगी।
“अंतिम? अभी तो कठिनाई से आठ दस मिलन ही हुए है हमारे और तू..?” विनय स्तब्ध हो कर यास्मिन के बदले हुए व्यक्तित्व को देखता रहा।
“हाँ, विनय। अंतिम मिलन। आज के पश्चात हम कभी नहीं मिलेंगे। कभी नहीं। तू मुझे वचन दे...।” शब्दों के लिए खुले होंठ आज बोलते रहे।
“लगता है तू कुछ उतावली हो रही हो अथवा किसी भय को साथ लेकर आई हो। क्या बात है, कहे। एक काम कर, यहाँ शांति से बैठ जा।” विनय ने बीड़ी जला ली।
“तू पिएगी बीड़ी?”
यास्मिन चिड गई, विनय की इस बात से। विनय के हाथ में रही बीड़ी उसने बुझा दी, दूर कहीं फेंक दी।
“क्या बात है? क्या हुआ है? कुछ विस्तार से कहोगी?”
“बस अब कभी भी नहीं मिलेंगे। तुझसे विदाई लेने आई हूँ। अंतिम विदाय।”
“क्या कारण है? कुछ समज आए ऐसे बोल ना?”
“मेरा भाई, वो दूर दिख रही मेडिकल कॉलेज में पढ़ रहा है। उसे संदेह है कि मैं किसी के प्रेम में हूँ। वह मुझे किसी धनवान से ब्याह देना चाहता है। वह मुझ पर नजर रख रहा है। कभी भी वह यहाँ आ सकता है।” यास्मिन के शब्द भयग्रस्त थे।
“ओह। तो मेरे होने वाले साले साहब के कारण तू डर रही है? चल, मिला दे मुझे तेरे उस भाई से। मैं उससे बात करूंगा। कहाँ है? कौन है तेरा भाई?” विनय हिम्मत के साथ यास्मिन की तरफ बढ़ा।
“जावेद नाम है मेरे भाई का।” यास्मिन ने जो कहा उसे सुनते ही विनय वहीं रुक गया। यास्मिन से आधे फुट के अंतर पर। आधे फुट का वह अंतर विनय सम्पन्न न कर सका।
“तू जावेद की बहन है?” वह पुछ बैठा।
“क्यों? डर गया?” यास्मिन ने तीखी दृष्टि से प्रश्न किया।
“नहीं। बिल्कुल नहीं।”
“तो रुक क्यों गया?”
“मैं मेरे ही खास मित्र की बहन के साथ ..।”
“तू जावेद का मित्र है? तू उसे जानता है?”
“हाँ। हम दोनों लेब के पार्टनर हैं।”
“तो?”
“यदि मैं जानता कि तू जावेद की बहन है तो...।”
“तो तू मुझे प्रेम नहीं करता, यही न?”
“कदाचित। हाँ वैसा ही। कदाचित नहीं निश्चय ही मैं तुझ से प्रेम ना करता।”

“क्यों? मित्र की बहन से प्रेम नहीं कर सकते?”

“मैं नहीं जानता। किन्तु जावेद की बहन से प्रेम नहीं कर सकते।”

“ऐसा तो क्या है कि जावेद की बहन से प्रेम नहीं कर सकते? कोई रहस्य है?” यास्मिन के होंठों पर नटखट स्मित आ गया।

“जावेद मेरा मित्र है। मैं जानता हूँ कि उसे प्रेम में नहीं, धन में अधिक रुचि है। वह हंमेशा कहता रहता है कि वह अपनी बहन का निकाह किसी धनवान से ही कराएगा। तू जानती है कि मैं धनवान नहीं हूँ। ऊपर से विधर्मी भी हूँ। मेरे जैसे के साथ वह तेरा ब्याह कभी नहीं होने देगा।” विनय ने एक गहन सांस ली, कुछ क्षण उसे रोके रखा। उसे छोड़ते हुए वह बोला, “चलो, इस बात को हम यहीं.... तू कह रही थी न कि तू मुझसे अंतिम बार मिलने को आई है? तो इस अंतिम मिलन ...।” विनय भावुक हो गया। आगे कुछ भी बोल नहीं पाया।

“तो तूने सच में मान लिया कि मैं तुझे अंतिम बार मिलने आई हूँ? मैं तो केवल तुझे छेड़ रही थी।” यास्मिन खुलकर हंसने लगी।

विनय अभी भी गंभीर था। वह हंस ना सका।

यास्मिन ने उसकी आँखों में अपनी आँखें डूओ दी। विनय भी यास्मिन की आँखों में डूब गया। वहाँ उसके लिए एक आमंत्रण था, निर्बाध आमंत्रण। यास्मिन खुलकर आमंत्रित कर रही थी। विनय उस आमंत्रण को समजे, स्वीकार करे उससे पूर्व ही यास्मिन ने विनय को एक चुस्त और अंगार सा आलिंगन दे दिया। उसके तन का ज्वालामुखी विनय के शरीर में बह गया। यास्मिन ने अब चुंबनों का आश्रय लिया। असंख्य बरसा दिए, विनय पर।

यास्मिन के प्रेम के अचानक आक्रमण से विनय स्तब्ध हो गया। किन्तु यास्मिन बरसती रही, हँसती रही। अनाराधार, अविरत। उस प्रवाह में बहकर विनय जलने लगा। एक अग्नि उसके पूरे शरीर में जलने लगी।

जलकर राख हुए कंटेनर से कसकर दोनों एक दूसरे की अग्नि में तप्त हो गए। कंटेनर उस अग्नि को देखता रहा, ईर्ष्या की अग्नि में जलता रहा।

उस दिन जली अग्नि विनय के तन और मन में आज भी जल रही थी। उस अग्नि को वह बुझा न सका, शांत न कर सका।

उस दिन यास्मिन ने यूं ही कहा था कि उसकी यह भेंट अंतिम है। किन्तु कौन जानता था कि उसका वह उपहास वास्तविक हो गया। क्या वह सच कहने आई थी? यास्मिन का वह उपहास उसे आज भी एक रहस्य ही लग रहा है। क्या वह वास्तव में उपहास कर रही थी? या उपहास में ही सत्य कह गई थी? उस भेंट के पंद्रह दिन बीत गए। यास्मिन के साथ न तो कोई बात हो सकी न कोई भेंट। उसके विषय में कोई जानकारी भी न मिली।

मिली तो एक निकाह पत्रिका। जावेद यास्मिन के निकाह की पत्रिका लेकर आ गया।

“अगले माह की सात तारीख को मेरी बहन यास्मिन का निकाह है। तुम दोनों को समय पर आ जाना है। मेरी बहन तुम्हारी भी बहन ही है, समझे?” यास्मिन के निकाह की पत्रिका विनय के हाथ में रखकर वह चला गया।

यास्मिन का निकाह किसी धनवान सरफराज के साथ हो गया। विनय उसके निकाह में नहीं गया। जावेद ने यास्मिन के निकाह में नहीं आने पर विनय से झगड़ा भी किया। किन्तु विनय मौन ही रहा। कुछ ही दिनों में सब ठीक हो गया।

तब से इतने वर्ष बीत गए किन्तु विनय यास्मिन को भुला न पाया। आज भी उसने यास्मिन के प्रेम की अग्नि को ह्रदय में दीपक की ज्योत की भांति अखंड जलाए रखी है। उस जलती ज्योत को उसने सब से छिपाकर रखी थी। ऐसे छिपाए रखी थी उस ज्योत को कि उसे न तो जावेद और न ही मोहन कभी देख सका, आज तक।

यास्मिन के निकाह के पश्चात बड़बड़ करने वाला विनय मितभाषी बन गया था। लगभग मौन ही हो गया था। केवल आवश्यकता होती तभी बोलता। शब्दों के बदले संकेतों से काम लेता। होंठों के बदले आँखों से ही बात करता, यास्मिन की भांति!

‘क्या यास्मिन आज भी उसी तरह बातें करती होगी? या अब उसके होंठ बोलते होंगे? और आँखें चुप रहती होगी?’ विनय ने स्वयं से प्रश्न किए।

‘मैं क्या जानूँ?’

‘क्यों? तुझे तो उसकी सब बातों का ध्यान रहता था। अब क्या हो गया?’

‘कुछ नहीं हुआ है। किन्तु उस दिन के पश्चात मैं उससे कभी नहीं मिला। मैं नहीं जानता कि यास्मिन कहाँ होगी?’

“कहाँ होगी यास्मिन?” विनय के होंठों से शब्द निकल गए। नीरव रात्री में उन शब्दों को जावेद और मोहन ने सुने।

“विनय, अभी तू क्या बोला?” जावेद ने विनय से पूछा तभी जावेद के फोन की घंटी बजी।

दूसरे छोर से फरीदा का क्रोधित स्वर सुनाई दिया, “अब तो रात भी बीतने को आ गई। क्या इरादा है?”

जावेद ने अपनी महंगी घड़ी में समय देखा। सवेरे के चार बजकर बीस मिनिट का समय दिखा।

“तुझे बोला न कि कल ग्यारह बजे से पहले मिल जाएगा। तब तक..।” होंठों के मध्य शब्दों को अधूरे छोड़ते हुए जावेद ने फोन काट दिया।

वह अपनी कीमती घड़ी को देखता रहा। मूल्यवान घड़ी का समय उसके और फरीदा के लिए मूल्यवान नहीं रह गया था।

नई उगने को तत्पर प्रभात के प्रथम प्रहर में तीनों मौन हो गए। कुछ समय पश्चात जावेद के फोन पर पुन: फरीदा की घंटी बजी। वह क्रोधित हो गया। उसने फोन काट डाला।

उसे देख मोहन व्यंग में हँसते हुए बोला, “इस विनय को है कोई चिंता? विवाह ही नहीं किया हो उसे पत्नी का फोन कहाँ तंग कर सकता है?”

विनय कुछ दूर चला गया। अपने फोन को देखा। उसमें किसी का कोई कॉल नहीं था। वह गुस्सा हुए जावेद को देखकर सोचने लगा, “काश! मेरे फोन में भी इस समय कोई घंटी बजी होती! और सामने यास्मिन का स्वर...?”

कंटेनर की उस पार फिर से जाग गई एक धधकती आग! विनय उसमे जलता रहा। एक ठंडी हवा उसे स्पर्श करती चली गई। आग में घी डालती गई।

[2] राजगीर

“साहब, चूल्हा जलाने को लकड़ियाँ नहीं है। आज रसोई कैसे होगी? तीस लोगों का भोजन बिना लकडी के कैसे होगा?”

“क्यों? क्या हुआ महाराज? कल शाम वो गया था ना पेड़ काटने को, वहीं जाकर देखो। कटे हुए पेड़ की लकड़ियाँ वहीं पड़ी होंगी। दो चार मजदूरों को ले जाओ, गाड़ी ले जाओ और लकड़ियाँ ले आओ। एक भी मजदूर भूखा न रहे वह देखना।”

“ठीक है साहब किन्तु..?”

“सुना नहीं? वहाँ जाकर लकड़ियाँ ले आओ। एक बार कहा न? जाओ जल्दी करो।”

“संजय ने एक डाली भी नहीं काटी, साहब।”

“आपने स्वयं जाकर देखा? संजय का काम पक्का होता है। उसने तीनों पेड़ काट डाले होंगे। आप स्वयं जाकर लकड़ियाँ ले आओ। दूसरों के भरोसे काम नहीं होते महाराज। जाओ अब।”

“किन्तु..।”

“अब क्या है? यह किन्तु किन्तु क्या लगा रखा है?”

“साहब, मैं स्वयं जाकर देख आया हूँ। तभी तो कह रहा हूँ कि संजय ने एक भी लकड़ी नहीं काटी है। वे तीनों सूखे पेड़ वैसे ही खड़े हैं।”

“क्या बात कर रहे हो? संजय ने उसका काम नहीं किया है ऐसा आप कह रहे हो, महाराज? संजय को एक बार कोई काम दिया जाए तो वह अपना काम किसी भी स्थिति में पूरा करता ही है। आपकी कोई भूल हो रही होगी महाराज।”

“नहीं साहब, कोई भूल नहीं हुई है मुझ से”

“तो संजय ने काम पूरा क्यों नहीं किया? देखो, संजय कहीं बीमार तो नहीं? उसके लिए दवाइयों की व्यवस्था करवाओ। दूसरे दो चार मजदूरों को लेकर जाओ, पेड़ से लकड़ियाँ ले आओ। समय पर सभी को भोजन देना है। जाओ भी अब।”

“संजय बीमार नहीं है।”

“तो कहाँ है? बुलाओ उसे?”

शीघ्र ही संजय को लेकर साहब के समक्ष महाराज उपस्थित हुए।

“कहो संजय, तुझे वे तीन पेड़ से लकड़ियाँ काटने का काम दिया गया था वह तूने पूरा क्यों नहीं किया? तू जानता है न कि उन्हीं लकड़ियों से चूल्हा जलेगा और इन मजदूरों का भोजन बनेगा? समय पर भोजन नहीं मिला तो मजदूर काम रोक देंगे। इस होटल का काम समय पर पूरा नहीं हुआ तो मेरी नौकरी चली जाएगी।”

“अपनी नौकरी की चिंता है साहब को।” संजय बड़बड़ाया।

“संजय।” साहब चिल्लाया।

“साहब मैं पेड़ काटने गया था किन्तु...।”

"किन्तु क्या? गया था तो पेड़ काटे क्यों नहीं?"
"मैं काटने ही जा रहा था कि मेरे हाथ रुक गए।"
"क्यों? पेड़ पर किसी भूत बुत को देख लिया था क्या? भूत बुत कुछ नहीं होता। वे सब मन के वहम होते हैं।"
"नहीं साहब, वहाँ कोई भूत बुत नहीं रहता।"
"तो?"
"भूत तो मरे हुए के होते होंगे। वहाँ तो जीते हुए बसे हैं। तीनों पेड़ पर जीते हुए रहते हैं साहब।"
"जीते हुए भूत?"
"नहीं साहब, जीते हुए जीव बसे हैं उन पेड़ों पर।"
"बकवास मत कर। वे तीनों पेड़ सूखे हैं। वहाँ भूत के सिवा कोई नहीं रह सकता। और तूने ही अभी कहा न कि वहाँ भूत नहीं है। बातें बनाना छोड़ कर पेड़ काटने लग तो चूल्हा जले।"
"चूल्हा जलाने को तो बाजार से लकड़ियाँ आती ही हैं न? वहीं से मँगवा लो। मैं उन पेड़ों को नहीं काटूँगा।"
"मुझे क्या करना है उसकी मुझे सलाह दे रहा है?"
"नहीं साहब।"
"तू नहीं काटेगा तो मैं दूसरों को भेजकर कटवाता हूँ। पेड़ तो मैं कटवाकर ही रहूँगा। तू जानता है कि उन पेड़ों की लकड़ियों को काटने से कितने पैसे बचेंगे?"
"इतनी गिनती मैं नहीं जानता किन्तु इतना जानता हूँ कि उन बचे हुए पैसे आपकी जेब में ही जाएंगे।"
"चुप हो जा संजय। चला जा यहाँ से। अभी से मैं तुझे काम से निकाल रहा हूँ। तेरी घरवाली को भी। जाओ, दोनों जाओ यहाँ से।"
"ठीक है साहब, जैसा आप चाहो। हमारे हिसाब के रुपये हमें दे दो तो हम चले जाएंगे।"
"एक पैसा भी नहीं दूंगा। तुम्हारे दोनों के वे पैसे भी मेरी जेब में ही जाएंगे। जो करना हो, कर ले।"
"वे तो हमारे श्रम के, हमारे अधिकार के पैसे हैं। बिना पैसे के हम क्या करेंगे? हम गरीब लोग हैं, साहब।"
"पैसा चाहिए तो पेड़ काटने पड़ेंगे। आज ही, अभी ही। काटोगे?"
"नहीं। पैसा आप रख लो, पेड़ तो मैं नहीं काटूँगा।"
"वो तो कोई दूसरा काट लेगा। तू निकल यहाँ से, अभी। घरवाली को भी लेते जाना।"
"चला जाऊंगा किन्तु किसी को भी वे पेड़ काटने नहीं दूंगा। किसी को भी नहीं।" संजय चला गया।

# # # #

"क्या कहा साहब ने? बोल ना?"
"हम दोनों को काम से निकाल दिया। साथ में इस स्थान को भी छोड़कर जाने को कहा है। चलो, जो भी कुछ है उसे गठरियों में बांध लो।"
"तो कहाँ जाएंगे? और हमारे पैसे?"
"वो पैसे भी साहब खा जाएंगे।"
"खा जाएंगे? हम गरीब के पैसे उसे कैसे पचेंगे?"

“उनके पेट बहुत बड़े होते हैं, कठोर भी। उन्हें सब कुछ पच जाता है।”
“अब क्या करेंगे? दिन कैसे काटेंगे?”
“तुम्हें भगवान पर श्रद्धा है न?”
“तेरे पर भी श्रद्धा है। मेरी माँ ने मेरा नाम श्रद्धा तभी तो रखा होगा।” उसने स्मित दिया।
संजय और श्रद्धा चुप चाप वहाँ बनाये अपने संसार को समेटकर गठरियाँ भरने लगे।
“कितना छोटा सा संसार है अपना?” समेटी हुई तीन गठरियों को देखकर श्रद्धा बोली।
“इतना ही छोटा पेट है अपना। दो चार रोटी और भात में तो कैसा पूरा भर जाता है?”
“उस पर पानी पीते ही संतोष का ड़कार। पश्चात गहरी निद्रा।”
“हाँ। अब वह ड़कार वहीं लेंगे और वह निद्रा भी वहीं जाकर करेंगे।”
“कहाँ?”
“वो तीन पेड़ों की छाँव तले। वहाँ इन गठरियों को खोलकर नया संसार रचेंगे।”
“तो चलो।”
“वहाँ त्वरित जाना होगा। थोड़ी शीघ्रता से चलना।”
“क्यों? वहाँ कहाँ कोई संपत्ति लूट जाने वाली है?”
“बहुत बड़ी संपत्ति लूट जाएगी, यदि थोड़ा भी विलंब हुआ तो।”
“क्यों ऐसा कह रहा है?”
“वो पेड़ काटने के लिए साहब दो चार मजदूरों को भेजनेवाले हैं। वे वहाँ पहुंचते ही होंगे।”
“तो तो दौड़ने लगो। उनसे पहले हम पहुँच जाते हैं।”
गठरियों को लेकर दोनों दौड़ने लगे। साँसे फूलने लगी जब वे पेड़ों के पास पहुंचे।

# # # #

“देख, ये तीन पेड़ हैं वही अब हमारा घर है।” संजय के शब्दों को सुनते ही श्रद्धा बोल पड़ी, “अपना घर?”
“हाँ, कैसा प्राकृतिक है यह घर?”
श्रद्धा अनिमेष तीनों पेड़ों को देखती रही। संजय उसके मुख के भावों को समझने का प्रयास करने लगा किन्तु समज नहीं पाया कि श्रद्धा क्या देख रही है। धैर्य खोते हुए संजय पूछ बैठा, “क्या हुआ? क्या सोच रही हो? अपना नया घर पसंद नहीं आया?”
श्रद्धा ने अपने होंठों पर अंगुली रखते हुए कहा, “शी ... श।”
संजय चुप हो गया।
कुछ ही समय बिता होगा तभी चार मजदूरों को लेकर एक गाड़ी आकर वहाँ रुकी। उसे देखते ही संजय - श्रद्धा समज गए कि अब संघर्ष होनेवाला है, सज्ज रहेना है। दोनों ने परस्पर आँखों से संकेत दिए। उन्हें समजे और आनेवाली क्षणों के लिए सज्ज हो गए।
चारों मजदूर पेड़ों के निकट आ गए। पेड़ काटने की सज्जता करने लगे।
“आप लोगों को मैं पेड़ काटने नहीं दूंगा।” संजय ने कहा।
“क्यों भला? तूने नहीं काटा तो कोई बात नहीं किन्तु हमें पेड़ काटने से क्यों रोक रहा है?” एक ने कहा।

“आर भाई, हम छोटे लोग हैं। साहब लोगों से हमें क्यूँ बेर बांधना?” दूसरा बोला।

“सुन, यह पेड़ बिल्कुल सूखे हैं। उनमें बरसों से नई डाली भी नहीं उगी। बांझ पेड़ों को कब तक खड़े रखना?” तीसरा बोला।

“चल हट अब। हमें हमारा काम करने दे।” चौथा बोला।

“आपका काम? आपका काम तो मकानों को बनाना है। उसके लिए तो आपको काम पर रखा है। वो काम करो न? पेड़ काटने का काम कब से आपका हो गया?” संजय ने कहा।

“साहब जो बोले वही अपना काम। ज्यादा सोचने का नहीं। चल हट जा अब।”

“नहीं हटूँगा। आप सब मुझे मारोगे तो भी नहीं हटूँगा।”

“हम तुझे क्यों मारेंगे? तू तो हमारा पुराना साथी है।”

“तो मेरी बात मानो और पेड़ काटे बिना ही चले जाओ।”

“तो भोजन का क्या? खाना तो पड़ेगा न? चूल्हा जलाने के लिए तो लकड़ियाँ लेने आए हैं।”

“कल तक लकड़ियाँ बाजार से आई हैं। आज भी वहीं से लाकर चूल्हा जला लो। बस इन पेड़ों को तोड़ना नहीं।”

“ये साहब वहीं से लकड़ियाँ क्यों नहीं मंगाते?” एक ने प्रश्न किया।

“मैं बताता हूँ। उन लकड़ियों के पैसे साहब हजम करना चाहते हैं। वह तो गलत ही है न?” संजय ने कहा।

“वो ऐसा करेंगे तो भुगतेंगे। हमें क्या?” दूसरे ने तर्क दिया।

“क्यों? उनके गलत कामों में हाथ बँटाने पर हमें भी तो भुगतना पड़ेगा न?” संजय ने उसके तर्क को काटा।

“वो सब छोड़। तू पेड़ काटने लग जिससे हमें खाना मिले।” तीसरे ने कहा।

चारों पेड़ काटने को आगे बढ़े। संजय और श्रद्धा मार्ग में खड़े हो गए।

“हट ना? इन बांझ ठूँठे पेड़ों के लिए इतनी हठ क्यों कर रहा है?” एक ने कहा।

“वह तो करेगा ही न?” चौथे ने कहा।

“क्यों करेगा?”

“जिसकी घरवाली बांझ होती है उसे सभी बांझ वस्तुओं से प्रेम होगा ही न?” चौथे ने उत्तर दिया।

शब्दों को सुन श्रद्धा विचलित हो गई। क्षण भर के लिए उसका हृदय स्पंदन चूक गया। आँखों में आँसू आ गए। उसने संजय की तरफ देखा।

संजय के हाथ में परशु थी। मुख पर विकराल भाव थे। आँखों में अंगारे थे। जैसे साक्षात परशुराम!

उसका रौद्र रूप देख चारों हतप्रभ हो गए। सभी ने संजय से दृष्टि हटाकर श्रद्धा को देखा। श्रद्धा ने साहस जुटाया, मन को कठोर किया, अश्रुओं को वहीं रोक लिया। श्रद्धा संजय से भी अधिक आक्रामक प्रतीत हो रही थी। साक्षात चंडिका हो जैसे।

चारों उन दोनों के रूप देख डर गए। कुछ भी बोले बिना एक दूसरे को आँखों से संकेत कर वहाँ से भाग निकले। संजय और श्रद्धा उन्हें जाते हुए देखते रहे। कुछ अंतराल के पश्चात शीतल पवन की लहर आई तब दोनों की तंग मुद्राएं शिथिल हुई। परस्पर देखा दोनों ने और हंस पड़े।

# # # #

"श्रद्धा, ये लोग आए उससे पूर्व तुम कुछ सोच रही थी। क्या था वह?"
"संजय, देख ये तीन पेड़ हैं। उनके नीचे अपना घर होगा ऐसा तूने कहा था न?"
"हाँ। तो?"
"देख यह जो बांये हाथ पर पेड़ है वहाँ हम रसोई बनाएंगे। वह अपना क्या बोलते हैं उसे?"
"किचन?"
"हाँ, वही। वह अपना किचन होगा।"
"यह जो मध्यवाला पेड़ है उसके नीचे हम पलांठी मारकर बैठेंगे। थक कर घर लौटेंगे तो वहीं बैठेंगे।"
"उस स्थान को क्या कहोगी?"
"अपना ड्रॉइंग रूम।"
"और यह तीसरे पेड़ के नीचे बिछौना बिछाकर सो जाएंगे।"
"अर्थात बेडरूम?"
"वही तो।"
"तो यह है अपना वन बेड रूम हॉल किचन का घर।"
"तो चलो खोलो गठरियाँ और सजाने लगो अपने घर को।"
"रुको जरा।"
"अब क्या है?"
"मेरे मन में एक संदेह है।"
"बोल दे।"
"ये लोग जो अभी गए हैं वे वापिस आ गए तो? साहब को लेकर आएंगे तो? वो लोग इतने अधिक होंगे और हम केवल दो? कैसे....?"
"तेरा संदेह उचित है। वे चुपचाप नहीं रहेंगे। वापिस आएंगे ही। किन्तु कोई बात नहीं। जब आएंगे तब देख लेंगे। हम अपना घर सजाते हैं अभी तो।"
दोनों काम पर लग गए। गठरियाँ खुलने लगी। तभी दो गाड़ियां आई।
"लो, आ गए। साथ में साहब भी हैं।"
"तेरा संदेह सच निकला। आने दो उनको।"
दोनों समीप आ रही गाड़ियों को देखते खड़े रहे। गाड़ी रुकी। आठ श्रमिकों के साथ साहब गाड़ी से उतरे।
साहब आगे बढ़े। पीछे पीछे श्रमिक भी।
"जाओ, काट डालो तीनों पेड़ों को। देखता हूँ किसमें हिम्मत है रोकने की।" श्रमिक पेड़ों की तरफ बढ़ने लगे।
संजय और श्रद्धा ने परस्पर देखा। दोनों की आँखों में विवशता साक्षात साक्षात उभर आई। नि:सहाय स्थिति में एक दूसरे को देखते रहे। पेड़ों की हत्या देखनी ना पड़े इसलिए दोनों ने आँखें बंद कर दी। पेड़ों पर पड़ने वाले घातों को और पेड़ों के चीत्कारों को सुनना न पड़े इस हेतु दोनों कानों पर हाथ दबा दिए। तथापि कान बहते पवन को और सूक्ष्म सूक्ष्म ध्वनियों को सुनते रहे।
सहसा सूक्ष्म ध्वनि तीव्र होने लगे, अधिक तीव्र। दोनों ने कानों पर से हाथ हटा लिए। आँखें खोल दी। अनेक पंखियों ने शोर मचा रखा था। ठूँठे पेड़ के ठीक ऊपर से मधपूड़े में से उड़कर असंख्य मधुमक्खीयां श्रमिकों और साहब पर टूट पड़ी थी। पंखी भी उनके ऊपर उड रहे थे। वे सभी कलरव के स्थान पर कलशोर कर रहे थे। श्रमिक और साहब

जी बचाते हुए गाड़ी की तरफ भागे। मधुमक्खियां और पंखी कुछ दूर तक उनके पीछे गए। जब सभी भाग गए तब वे लौट आए।
मधुमक्खीयां ठूँठे पेड़ की टोच पर जाकर अपने घर में घुस गई। पंखी भी सूखे पेड़ों की खोखली बगलों में घुस गए। कुछ बगलों से गिलहरियाँ अपनी गर्दन खींचकर सब देख रही थी। एक बगल से एक पंखी के ताजे जन्मे दो बच्चे भी विस्मय से सब निहार रहे थे। संजय श्रद्धा पूरे द्रश्य को देख हंस पड़े।
“संजय, इन ठूँठे पेड़ों के इन पंखियों और प्राणियों के पराक्रम देखकर मुझे लगता है कि ये सब हमें भी यहाँ रहने नहीं देंगे। चल हम अपने इस एक बेड रूम हॉल किचन वाले फ्लैट को छोड़ कहीं चले जाते हैं।”
“नहीं श्रद्धा, हमें वे यहाँ रहने देंगे।”
“क्यों? अभी जो हुआ उसे देखा नहीं क्या? फिर भी तू कहता है कि वे सब हमें रहने देंगे?”
“मुझे इसमें कोई संदेह नहीं है।”
“कोई विशेष कारण?”
“यदि ऐसा न होता तो हम पर भी आक्रमण हुआ होता। हम तो यहाँ घंटों से हैं किन्तु अब तक हम पर आक्रमण कहाँ हुआ है?”
“हाँ, सही कहा तूने। किन्तु ऐसा क्यों?”
“पंखी और प्राणी भी जानते हैं कि हम तो राजगीर हैं। सब के लिए घर बनाते हैं हम, किसी का घर तोड़ते नहीं हैं हम। इसी कारण वे हम पर विश्वास करते हैं। तभी तो आक्रमण नहीं किया हम पर।”
“तो वो श्रमिक भी तो राजगीर ही थे न? उन पर क्यों....?”
“थे तो वो भी राजगीर। किन्तु वे यहाँ राजगीर बनकर नहीं आए थे। राजगीर के हाथों में पेड़ काटने के साधन नहीं होते। इतना तो इन अबोल जीव भी समजते हैं।”
“ओ..ह। संजय। तू कितना सोचता है! समजता है! तू यह सब कैसे समज लेता है?”
“तू भी थोड़ा थोड़ा पढ़ा कर। तुझे भी सब समज आने लगेगा।”
“मेरे पास समय ही कहाँ होता है?”
“पुस्तकें पढ़ने के लिए किसी के भी पास समय नहीं होता है। बस, समय निकालना पड़ता है।”
“मैं प्रयास करूंगी। अभी तो इन गठरियों का समान सजाने लग जा।”
दोनों ने सामान सजा दिया। दिन बितने लगे। दोनों की मजदूरी, पुस्तक पढ़ना और जीवन चलने लगा।

# # # #

“इस वर्षा ने सब भिगो दिया। वर्षा से बचने के लिए घर को फिर से सजाना पड़ेगा।” श्रद्धा ने काम से लौटते ही कहा।
“हाँ। अभी तो वर्षा रुकी है। पूरा दिन बरसने के पश्चात बादल हटे हैं। तो कल सजाएंगे तो चलेगा ना?”
“दूसरी वर्षा से पूर्व सजाना पड़ेगा यह मत भूलना।”
“नहीं भूलूँगा। और भूल भी गया तो तू है न स्मरण कराने को।”
एक स्मित देकर श्रद्धा काम पर लग गई।
कुछ दिन बीत गए।

“आज बादल दिख रहे हैं। वर्षा आनेवाली है। चल सब सामान ठीक से रख लेते हैं।”

“तू दाहिनी तरफ कोई स्थान देख ले। मैं इस तरफ देखता हूँ।“]”

“मैंने देख रखा है। यहाँ आ। यहाँ वर्षा का पानी नहीं आएगा।”

संजय वहाँ गया। उस स्थान को देखने लगा। देखते देखते उसकी दृष्टि बड़ी सी एक डाली पर पड़ी। वहाँ उसे कुछ दिखा।

वह निकट गया। उसकी आँखों में प्रसन्नता उभर आई।

“श्रद्धा, यहाँ आ तो।” श्रद्धा संजय के पास गई।

“क्या है?” श्रद्धा अधिराई से पूछने लगी।

“यह देखो, यहाँ।” संजय ने संकेत से जो स्थान दिखाया उसे देखते ही श्रद्धा बोल पड़ी, “यह तो नई हरी कोमल कुंपल फूटी लगती है।”

“ठूँठे पेड़ पर हरी कुंपल उगी है श्रद्धा। ठूँठे पेड़ पर नई कुंपल।” संजय हर्ष से नाचने लगा। श्रद्धा का हाथ पकड़कर उसे भी नचाने लगा।

“बस, बस। ऐसी स्थिति में अधिक नचा नहीं।”

“क्यों? कैसी स्थित?”

श्रद्धा कुछ न बोली। उसकी आँखों में चमक थी और होंठों पर स्मित। जैसे श्रद्धा में उगी नई ताजी कुंपल। संजय के भीतर भी कुछ उग गया।

सम्पन्न।

17/02/2024

[3] चौथा व्यक्ति

रानी माँ आज बहुत प्रसन्न थी। उसने सभी स्त्रियों को बधाई दी। महादेवजी की ध्वजा चड़ाने की भी बात कही। किन्तु उन स्त्रियों को बधाई से कहाँ संतोष था?

“रानी माँ, ध्वजा तो आप जब चड़ाओ तब, इस बधाई की बात पर कुछ मीठा मुंह तो कराओ। गुड का टुकड़ा भी चलेगा।” एक ने बधाई की हवा को पंख लगाए।

“अनंत, बेटा। जा रसोई में से पेड़े ले आ। वहाँ डिब्बे में पड़े हैं। मैं तो ठाकुर जी के लिए लाई थी किन्तु अब इसे इन सबको बधाई के बदले में दो। जैसी ठाकुर जी की इच्छा।” रानी माँ ने रसोई तरफ संकेत किया और हाथ उठाकर ईश्वर का अभिनंदन किया।

अनंत के मुख का तेज अचानक उड गया। किन्तु रानी माँ की बात को टाल ना सका। वह जानता था कि अमिता के गर्भ में जन्म ले रहे बालक का बाप वह नहीं हैं। किन्तु इस बात को इतनी सारी स्त्रियों के सामने कैसे बोले? रानी मां भी कहाँ इस बात को जानती है?

अनंत के भीतर क्रोध, नाराजगी, दु:ख, घृणा, क्षोभ और अपने पर ही तिरस्कार के भाव एक साथ जन्मे। किन्तु वह विवश था। समय देखकर वह मौन ही रहा।

वह बलात हंसा। “हाँ रानी माँ । इस बधाई के अवसर पर सब को मिठाई तो देनी ही चाहिए। आखिर मैं बाप बन रहा हूँ। मैं अभी रसोई से पेड़े लाता हूँ।”

वह सभी स्त्रियों की तरफ मुड़कर बोला, “मुंह मीठा कर के ही जाना।” प्रसन्न होने का अभिनय करते हुए वह शीघ्रता से रसोई में चला गया।

उसके मन में कोई योजना आकार लेने लगी। पेड़े का डिब्बा लेकर वह बाहर आया। अचानक पाँव में ठोकर लगी हो ऐसे, वह जानबूझकर गिर गया। पेड़े का डिब्बा उसके हाथ से छिटक गया। नीचे गिर पड़ा। खुल गया। सभी पेड़े धरती पर बिखर गए। रानी माँ और सभी स्त्रियों के मुख से एक साथ चीख निकल गई।

“कोई बात नहीं रानी माँ। पेड़े फिर कभी खा लेंगे। पर पेड़े की तरह अनंत भाई के हाथ से बच्चा छिटक न जाए उसका खयाल रखना।” व्यंग करती हुई वे सभी चली गई।

पेड़े अभी भी बिखरे हुए पड़े थे। अनंत के विचार और राजा जी की नजर भी।

दोनों को धुँधलाहट थी। दोनों अपनी पराजय सह नहीं सकते थे। राजा जी की तो घर में आने की भी हिम्मत ना रही। वह वहीं द्वार पर ही रुके रहे। अनंत सीधा ही अमिता के कक्ष में दौड़ गया, क्रोध लेकर। रानी माँ आनेवाले बच्चे की कल्पना में कुछ गुनगुनाने लगे।

* * *

अनंत अमिता की तरफ बढ़ा। अमिता मोबाइल पर व्यस्त थी। वह वहीं रुक गया। अमिता को ध्यान से देखने लगा।

विवाह के पश्चात आज कदाचित पहेली ही बार वह अमिता को इस तरह से देख रहा था। अमिता के शारीरिक सौन्दर्य को उसने कभी देखा ही नहीं था। कैसे देखता? इतनी हिम्मत कहाँ थी उसमें? किन्तु आज वह देख रहा था, साहस जुटाकर।

हाँ तो अमिता ने नारंगी साड़ी पहनी हुई थी। वह ऐसे बैठी थी कि अनंत को उसके चहररे का बांया भाग दिख रहा था। शरीर के सभी बाँये अंग स्पष्ट दिख रहे थे। उसके खुले, काले, लंबे और सीधे केशों की लटें उसके कान को ढँक रही थी। हवा की मंद लहरों में वे लटें उड रही थी। गाल को छु रही थी।

उसका गाल? पूरा स्निग्ध। कुछ गोरा, कुछ लाल। उसे अमिता का पूरा मुख देखने को मन हुआ। वह थोड़ा आगे बढ़ा। अमिता ने अपने हाथों से गाल पर की लटों को कान के पीछे धकेल दिया। उसका कान दिखने लगा। कान पर लटक रही लंबी बाली दिखी। लंबी बाली उसके कंधों को छु रही थी। हवा उसके साथ खेलती थी। इससे वह बाली तरंगित हो रही थी। वह उसे देखता ही रहा।

कान के नीचे खुली ग्रीवा पर उसकी दृष्टि पड़ी।

पतली, सप्रमाण, नाजुक और आकर्षक ग्रीवा। उसकी दृष्टि अमिता को भरपूर देख लेना चाहती थी। वह थोड़ा और निकट गया। अमिता के प्रत्यक्ष आ गया।

उसे देखकर अमिता अपने विचारों से जाग गई। उसने अनंत की आँखों में देखा। उन आँखों के भाव अज्ञात थे, अपरिचित थे। वह चौंक गई।

अनंत की दृष्टि अमिता के होंठ, आँख, पलकें, गाल, लटें, सब पर फिरने लगी। धीरे धीरे नीचे सरकने लगी। कंठ से होते हुए छाती पर आ अटकी। नारंगी चोली में छिपे उरोजों को वह देखता रहा।

इतने सुंदर कुच युग्म! एकदम घुमावदार, भरे हुए, नुकीले! वहाँ से वह दृष्टि हटा ना सका।

‘कितने बड़े होंगे? कितना कद होगा इसका? कितने आकार की ब्रा वह पहनती होगी? ब्रा पहनती भी होगी?’ अनंत को इसमें से कुछ भी ज्ञात नहीं था। एक पति अपनी पत्नी का आकार भी नहीं जानता।

मन में वह सोचता रहा - ढंके हुए स्तन भी इतने सुंदर और मोहक लग रहे हैं तो अनावृत होते होंगे तब कैसे कातिल होते होंगे? कभी भी उस कातिल को देखने का अवसर ही नहीं मिला।

अवसर तो सदैव सामने ही थे। वह आमंतण देती थी। किन्तु मैं ही इतना साहस नहीं जूटा पाया। कैसे जुटाता? राजा जी के आशयों को वह जानता था। उससे वह डरता जो था।

उसने स्तनों पर से दृष्टि हटा ली। नीचे सरकने लगी। साड़ी के नीचे ढंकी होने पर भी थोड़ी थोड़ी खुलती कमर पर वह अटकी। पहाड़ी मार्ग के घुमावदार पगदंडी जैसी। गोरी, चिकनी कमर। यात्री बनकर इस घुमावदार कटी प्रदेश के मार्ग में जीवनभर खो जाने को मन हो आया अनंत का।

इतने सुंदर अंग! और उसने कभी भी एक अंग को स्पर्श करने का भी प्रयास नहीं किया? अरे, देखने का भी प्रयास भी कहाँ किया है? कैसे कैसे अंग होंगे इस सुंदरी के!

ओह। अमिता इतनी सुंदर होगी वह तो मुझे ज्ञात ही न रहा।

उसके मन में अनेक उन्माद जागने लगे। सम्मुख ही सौन्दर्य की अप्रतिम प्रतिमा थी जिसे स्पर्श करने को उसका मन हो आया। प्रकृति की अपूर्व कला को भोगने का मन हुआ। रति जैसी अमिता को कामदेव बनकर भोगने की तीव्र झाँखना जन्मी।
शृंगार रस सारी हवा में घुलने लगा। उसके प्रभाव से वह बच ना सका। अमिता को पाने के लिए वह दो चरण आगे बढ़ा। अनंत ने उसे स्पर्श किया। अमिता उसे देखती ही रह गई।
विवाह के पश्चात अनंत ने प्रथम बार अमिता को स्पर्श किया। उसे अच्छा लगा। किन्तु अमिता को अच्छा नहीं लगा। एक झटके से वह पीछे हट गई।
अनंत ने माना कि यह तो प्रणय की भंगिमा है। अमिता को अपने आलिंगन में लेने के लिए वह आगे बढ़ा। अमिता को पूरे उन्माद से दबाने लगा।
अमिता को वह स्वीकार न था। वह फिर से अधिक बड़े झटके से आलिंगन से छूट गई। उसे अब अनंत में कोई रुचि नहीं रही थी।
“मुझे स्पर्श करने का कभी प्रयास नहीं करना, अनंत।” अमिता क्रोध से बोली।
आज तक उसने कभी अनंत को तू सम्बोधन नहीं किया था। कभी उसका नाम तक नहीं लिया था। आज अमीता ने दोनों सीमाएं लांघ दी।
“क्यों? मैं तेरा पति हूँ। तुझे भोगने का मुझे अधिकार है।”
“स्त्रि और वसुंधरा को तो वीर पुरुष ही भोग सकते हैं। वीर पुरुष। समझा?”
“तो? क्या कहना चाहती हो?”
“स्त्रि को भोगने के लीये वीर पुरुष बनाना पड़ता है। तू वीर तो है ही नहीं, पुरुष भी कहाँ है? तू तो नपुंसक है। वीर्यविहीन है। मुझे या किसी भी स्त्री को भोगने का तुझे अधिकार ही नहीं।” अमिता ने सभी दीवारें गिरा दी। खिड़कियों के परदे खोल दिए। एक नई हवा तूफान मचाने लगी।
अमिता के इन शब्दों और ऐसे व्यवहार ने अनंत को हिला दिया। उसके अहम को ठेस लगी। वह आहत हो गया। क्रोध और लज्जा से कांपने लगा। किन्तु वह कुछ भी कर सक्ने में समर्थ नहीं था। मन ही मन में धुंधलाकर मौन हो गया।
सत्य कहा था अमिता ने। वह पुरुष में ही न था। वह नपुंसक ही था। स्त्री को भोगने को वह सक्षम ही कहाँ था? उसने मुट्ठी हवा में उछाली, हवा में ही मारी और शांत हो गया। समय परख कर वह वहाँ से सरक गया।

+++

पूरा दिन यहाँ वहाँ भटककर रात्री को अनंत घर लौट आया। साहस बचा नहीं था तथापि वह शयनखंड में अमिता के पास गया। विवश होकर, लोक लज्जा से।
वह जानता था कि अमिता के बालक का पिता वह नहीं है। किन्तु यह बात लोगों ने जान ली तो? तो रानी मां औ सारा संसार उसकी हांसी उड़ाएंगे, उसे धिक्कारेंगे, अपमानित करेंगे। और उसके पश्चात?

यह कमाई हुई आबरू, मान, मर्यादा और कथित सम्मान सब हिम की भांति पिघल जाएगा। पानी बनकर बह जाएंगे। बाष्प बनकर बिखर जाएंगे। और वह हो जाएगा रिक्त। खुल गई मुट्ठी की भांति हथेली से सरक जाएगा यह सब।

नहीं। ऐसा होने नहीं दे सकता। मैं जानता हूँ कि मैं बालक का पिता नहीं हूँ। किन्तु कोई अन्य कहाँ जानता है इस बात को? इस रहस्य को केवल तीन लोग ही जानते हैं- मैं, राजा जी और अमिता। इस रहस्य को रहस्य रहने देने में ही सबका भला है। यह बात मैं किसी को नहीं कहूँगा। उसने निश्चय कर लिया। रहस्य छटपटाता रहेगा इन तीनों के मध्य। केवल इन तीनों के मन में।

केवल तीन लोग? नहीं। कोई चौथा भी है जो इस रहस्य को जानता है। कौन है वह? वो..वो..वही है अमिता के बालक का वास्तविक पिता। हाँ, वह भी जानता है इस रहस्य को।

कौन है वह? उस चौथे व्यक्ति के विषय में जानना ही पड़ेगा। किन्तु, कैसे? उसको केवल दो ही व्यक्ति जानते हैं, एक अमिता और दूसरा वही चौथी व्यक्ति। कौन है यह चौथी व्यक्ति? कैसे जान सकूँगा? एक मात्र उपाय है, अमिता से ही पूछ लेने का। किन्तु अमिता सत्य कहेगी? नहीं कहेगी। किन्तु एक प्रयास तो कर लूँ। अमिता से ही पूछ लेता हूँ। .

शैया पर पड़ी अमिता जाग रही थी। वह उसके पास गया। थोडा साहस जुटाया और पूछ लिया, “अमिता, तुम मां बननेवाली हो और मैं बाप। यह बात सारा संसार जानता है। किन्तु सत्य बिल्कुल भिन्न है। तू माँ तो बन रही है किन्तु मैं पिता नहीं बननेवाला। ठीक है न?”

“हाँ, तू जानता ही है तो क्यों पूछ रहा है?” अमिता ने नीरस उत्तर दिया।

“इसलिए कि मुझे उसके पिता का नाम जानना है, कौन है वह? उसका कुल क्या है?” अनंत ने पूरे संयम से चुभता हुआ प्रश्न कर दिया।

अमिता ने तीव्र दृष्टि से उसको देखा। उस दृष्टि में अगन थी। अनंत उसे झेल न सका। आँखें झुकाकर खड़ा रहा।

“कुल? किसका कुल जानना है? क्यों जानना है?”

“समाज की दृष्टि में तो मैं ही उसका पिता हूँ। किन्तु सत्य भिन्न है इसलिए जानना है।” अनंत इतना ही बोल पाया।

“इसका पिता कौन नहीं है इतना ही कहूँगी। कौन है वह नहीं कहूँगी।”

“क्या? क्या कहना चाहती हो?”

“यही कि इस बालक का पिता न तो तू है न ही तेरा बाप। और उसका वंश, उसका कुल तो कहूँगी ही नहीं।”

“तो? कौन है वह? मुझे उसका नाम बता।”

“नहीं, कभी नहीं कहूँगी। जीवनभर तू उसके लिए तड़पेगा तो भी नहीं कहूँगी।”

“अमिता, तू तेरी, मेरी और इस घर की सीमाओं को तोड़ रही हो।।” अनंत चीख पड़ा।

“नपुंसक पति सीमा लांघ नहीं सकता। और उसका बूढ़ा बाप सभी सीमाओं को तोड़ना चाहता है। दोनों कायर हो। कायर लोगों के वंश नहीं हुआ करते, अनंत।”

अमिता के शब्दों ने अनंत को उत्तेजित कर दिया। वह अमिता के निकट गया। उसके गालों पर दो चार थप्पड़ मार दीये।

“दुर्बल और नपुंसक पुरुष पत्नी के सामने ही वीरता दिखा सकता है। तू भी वही है।”

दोनों के मध्य कुछ उग निकला। रात्री का तमस उस कक्ष में आकर बैठ गया।

उस घटना के पश्चात किसी न किसी बहाने अमिता को अनंत प्रताड़ित करने लगा। शारीरिक यातना और अत्याचार भी करता रहा। अमिता मौन रहकर समय व्यतीत करती रही। उचित समय की प्रतीक्षा करने लगी।

दिन बितते गए। अनंत जिस प्रश्न का उत्तर ढूंढ रहा था वह उसे नहीं मिल रहा था। उसका अहम आह होता रहा, दिन प्रति दिन, क्षण प्रति क्षण, जब जब वह अमिता को देखता।

जब भी रानी मां आनेवाले बालक की बातें करती, गाँव के लोग बधाइयाँ देते तब तब उसके भीतर एक ज्वालामुखी भड़क उठता। किन्तु रानी माँ के लिए, उसके मान सम्मान के लिए वह सब कुछ सहता रहा, चुपचाप।

चुपचाप वह एक और बात भी करता रहा, मन में रचता रहा एक षड्यन्त्र। प्रतीक्षा करता रहा उसको पूरा करने के उचित समय की।

अमिता का गर्भ पाँच महीने का हो गया। उसके शरीर में अनेक परिवर्तन हो गए।

अनंत ने अपने षड्यन्त्र पर काम करने का यही उचित समय जाना। योजना को कार्य में बदलने का, मन में सुलग रहे आक्रोश को शांत करने का, अमिता ने किए अपमान का प्रतिशोध लेने का।

किसी भी रूप से अमिता का गर्भपात हो जाए तो इस मानसिक पीड़ा से मुक्त हो जाए। वह बाप बन सकता है वह भी सिद्ध हो जाए और किसी अन्य का पाप भी अमिता के गर्भ से धूल जाए। पाँच महीने का गर्भ गिरा दिया जाए और उसके गर्भ में गहरी चोट की जाए तो वह फिर कभी माँ बन ही नहीं पाएगी। यदि ऐसा हो जाए तो सब कुछ सही हो जाएगा। सांप भी मर जाएगा और लाठी भी नहीं टूटेगी।

किसी बात पर वह अमिता से लड़ने लगा। अमिता को उकसाने लगा। अमिता ने भी उग्र प्रतिरोध किया। उससे वह अंत्यन्त क्रोधित हो गया। उसे जो चाहिए था वह कारण मिल गया। अमिता के गर्भ पर प्रहार करने लगा। वह जमीन पर गिर पड़ी। रक्त बहने लगा। रक्त का रंग देख अनंत ने अट्टहास किया। उसे अपनी योजना सफल होती लगी।

अमिता को अस्पताल में लाया गया। वहाँ उसका उपचार होने लगा। कुछ दिनों पश्चात डॉक्टरों ने कहा, “बालक और माँ दोनों सुरक्षित हैं। चिंता का कोई विषय नहीं है।” डॉक्टर के शब्दों को सुनकर अनंत विवशता से हंसा। किन्तु उसके लिए यही चिंता का विषय था।

अपने षड्यन्त्र की विफलता पर वह और भी विचलित हो गया। किन्तु पुन: विवश हो गया।

उपचार ले रही अमिता सभी बातें उस चौथे व्यक्ति को करती रही। वह उसे धैर्य रखने को कहता।

एक उषा को सूरज उगने को था तब अस्पताल के आँगन में एक गाड़ी आकर रुकी। रूम में से धीरे धीरे चुपके चुपके अमिता बाहर आयी। उस गाड़ी में बैठ गई। गाड़ी गति में दौड़ने लगी। उस चौथे व्यक्ति के घर की ओर।

पेड़ पर कोई पंखी जाग उठा। पंख लहराकर पेड़ को छोड़ कहीं दूर उड गया। सूर्य क्षितिज से निकलकर अपनी कोमल किरणों से अवनी को जीवन से भरने लगा।

अस्तु ।

[4] दाहक

“नाथ, आप अभी भी यहीं हो? चलो, शीघ्रता से शीतागार में चले जाओ। विलंब किया तो वहाँ की हवा की गर्मी से आपके हाथ, पैर और पूरे शरीर को अगन ज्वालाएं पीड़ा देगी।” मंदोदरी ने रावण को स्नेह से कहा।

“पीड़ा? मंदोदरी, मुझे कोई भी पीड़ा नहीं हो रही। मेरी भुजायें थोड़ी भी जली नहीं है। मेरे किसी भी अंग में अग्नि ने प्रवेश नहीं किया है।” रावण ने कहा।

“क्यों? क्या हुआ?”

“ये मनुष्य नाम का प्राणी? उसका कभी विश्वास नहीं हो सकता।”

“अरे, मैं जो पूछ रही हूँ उसका उत्तर दो न? इसमें मनुष्य नाम का प्राणी कहाँ से आ गया?”

रावण ने गहरी सांस ली जो नि:श्वास बन गई। मंदोदरी निकट आई। रावण के पूरे शरीर पर हाथ फेरने लगी।

“वास्तव में आज आपके शरीर पर अगन ज्वाला का कुछ भी प्रभाव हुआ प्रतीत नहीं होता। क्या इस वर्ष उन्होंने तुम्हें जलाने के लिए पटाखे का प्रयोग नहीं किया? या प्रत्येक हिन्दू उत्सव की भांति रावण दहन में भी सुप्रीम कोर्ट ने हस्तक्षेप करते हुए, ज्ञान बांटते हुए पटाखे के प्रयोग को प्रतिबंधित कर दिया है?”

“मंदोदरी, इस समय भी आप को उपहास सूझ रहा है? मैं उपहास करने के पक्ष में नहीं हूँ। आप नहीं जानती महारानी कि मेरे मन की स्थिति क्या है?”

“नाथ, आप इतने व्यथित क्यों हैं? युगों से मनुष्य आज के दसहरा के दिन ही जलाता आया है और प्रत्येक बार आप मनुष्यों की ऐसी बालिशता पर अट्टहास करके, उन्हें तुच्छ मानकर उनकी अवगणना कर डालते थे। तो आज यह विषाद क्यों?”

“मानवी मुझे जलाए उससे मैं कभी विचलित नहीं होता। किन्तु आज बात कुछ भिन्न है।”

“क्या बात है? मुझसे कहो।”

“तुम सज्ज हो जाओ। मैं तुम्हें वहाँ ले चलता हूँ।”

“ठीक है नाथ, जैसी आपकी आज्ञा।”

केवल दो मिनट में मंदोदरी सज्ज हो गई। “चलो, चलें?”

रावण और मंदोदरी एक विशाल मैदान के पास आ गए।

मंदोदरी विचारने लगी, ‘लंकेश को आज हुआ क्या है? यहाँ इस क्षेत्र में क्यों लेकर आए हो? कितना भयावह लग रहा है यह? क्या जला है यहाँ?’

‘जला? अरे हाँ, इसी क्षेत्र में ही लंकेश के पुतले को जलाया होगा। उसकी राख दिखाने यहाँ ले आए होंगे। युगों से उस राख को देखती आई हूँ।’

“मुझे नहीं देखनी है वह राख।” मंदोदरी ने कहा।

“ना महारानी, उस राख को दिखने यहाँ नहीं लाया हूँ।”

“तो?”

“उस कोने में देखो। क्या दिख रहा है?”

“वहाँ? उस तरफ? हाँ। कोई विशालकाय वस्तु खड़ी हो ऐसा लग रहा है। क्या है वह?”

“आप चश्मा चड़ाओगे तभी दिखेगा।”

मंदोदरी ने चश्मा चड़ा लिया। “अरे, वह तो आपका पुतला है। ऐसे कैसे खड़ा है वह? क्या वे लोग आपको जलाना भूल गए?”

“मुझे जलाना यह मानव जात ऐसे थोड़े ही भूलेगा?”

“तो?”

“सांज होते ही लोगों की भीड़ जमा होने लगी थी। लोगों में उत्साह था मुझे जला डालने का। वह उत्साह धीरे धीरे उन्माद में बदल गया था। लोगों का बड़ा ही कोलाहल था।

कोलाहल!

मेरा परिचित कोलाहल!

कितना मधुर था वह कोलाहल!

“मैं जानती हूँ कि जैसे गायों को और यमुना के जल को कृष्ण की बाँसुरी मीठी लगती है वैसे ही आपको लोगों के उन्माद से भरा कोलाहल प्रिय लगता है।”

“आप इस तरह बीच में बोलती हैं तो मेरा ध्यान भंग हो जाता है।”

“क्षमा राक्षसराज। अब नहीं बोलूँगी। बस?”

“उस कोलाहल के बीच राम का रूप धरे व्यक्ति ने मुझे जलाने के लिए माचिस हाथ में ली और उससे मशाल जलाने ही वाला था तभी....।”

“तभी क्या?”

“तभी उस तरफ से एक बड़ी भीड़ हाथ में जलती मोमबत्तीयां लेकर क्षेत्र में दौड़ आई।”

“क्या उन मोमबत्तियों से आपको जलाने में गति मिलती?”

“नहीं। उस भीड़ में से एक लड़की आई और उस राम बने व्यक्ति के हाथ में जल रही दियासलाई को फूँक मारकर बुझा दी।”

“क्यूँ ऐसा किया उसने?”

“महारानी, उनके शब्द अभी भी मेरे कानों में गूंज रहे हैं। उनके शब्दों की गूंज मेरे कानों को प्रताड़ित कर रही है।”

“ऐसा तो क्या बोला उसने?”

“वो कह रही थी कि, इस तरह रावण को जलाना मानव अधिकार का उल्लंघन है। किसी भी व्यक्ति को ऐसे नहीं जला सकते। किसी को भी फांसी नहीं दी जा सकती। चाहे वह आतंकवादी ही क्यों न हो? आतंकवादी होते हुए भी वह मानव है। उसे सभी मानवाधिकार मिलने चाहिए। आंतरराष्ट्रीय मानवाधिकार पाँच ने रावण जलाने पर प्रतिबंध का आदेश किया है। यह रहा वह आदेश। अब कोई रावण नहीं जलाएगा।”

“पश्चात?”

“पश्चात यहाँ जमा हुई भीड़ का उन्माद उतरने लगा। एक एक कर सारी भीड़ बिखर गई। मुझे जलाए बिना ही। मुझे यहीं खड़ा छोड़कर सब चले गए।”

“तो आपने उस लड़की को रोका नहीं? आपने उसे कहा नहीं कि आतंकवादी पर या रावण पर मनुष्यों के विधि विधान लागू नहीं होते?”

“मैंने उसे समझाने का बड़ा प्रयास किया किन्तु वह मुझे कहने लगी, ‘तुम्हें इस विषय में कुछ समज नहीं आएगा। तू चुपचाप सब देखा कर। इस खेल में तू केवल एक प्यादा है। तुझे कुछ नहीं बोलना है‘’ उसकी बात सुन मेरा रक्त उत्तेजित हो गया। रावण को प्यादा समज रही है वह नादान लड़की। मन तो करा कि उसकी चोटी पकड़कर उसे पछाड़ दूँ किन्तु....।”

“किन्तु क्या?””

“आप तो जानती हैं महारानी, आज भी मैं पराई स्त्री को हाथ नहीं लगाता।”

“तो उसे भी धरती के साथ उठाकर, उसका अपहरण कर उसे भी अशोक वाटिका में लेकर क्यों नहीं आए?”

“महारानी, इतने युग बीते किन्तु आप मुझे जान नहीं पाई। रावण के हाथों से अपहृत होने के लिए सीता समान पवित्र होना पड़ता है।”

“तो क्या ये सब..?”

“ऐसी स्त्रियाँ तो रावण के हाथों अपहृत होने को तत्पर ही होती हैं। किन्तु रावण किसी भी स्त्री का अपहरण नहीं करता। मेरी भी कोई पसंद होगी कि नहीं?

हाँ। आपने अशोक वाटिका का ठीक स्मरण कराया। आप नहीं जानती किन्तु अब वहाँ फूलों से सदैव सुगंधित कोई वाटिका नहीं रही। चारों ओर दुर्गंध युक्त मानव बस्ती और ऊंचे ऊंचे भवन वहाँ बन गए हैं।”

“किसने की ऐसी स्थिति मेरी अशोक वाटिका की?”

“इस समय यह प्रश्न समयोचित नहीं नई, महारानी।”

“नाथ, मोमबत्तीयां लेकर आए वे लोग कौन थे?”

“इन लोगों के चेहरे नहीं होते। वे लोग भी प्यादे ही हैं, मुखौटे ही हैं। उनके पीछे छिपे वास्तविक मुख कभी नहीं देखे जा सकते।”

“ऐसा क्यों?”

“जलती मोमबत्तियों की ज्वालाओं के पीछे वे अपने वास्तविक चहेरों को छुपाये रखते हैं।”

“चेहरे को छुपाने के लिए तो अंधकार का उपयोग होता है न महाराज?”

“यह मनुष्य जात है, महारानी। राक्षसों की भांति सीधा सरल नहीं होता उनका ये खेल। प्रकाश की आभा के पीछे चेहरे छिपाने के खेल में माहिर है मनुष्य।”

“उनके वास्तविक चेहरे देखने हो तो?”

“उसे देखना हो तो प्रभात होने पर यहाँ पुन: आना पड़ेगा।”

“प्रभात में क्या होगा इस क्षेत्र में?”

“स्थान स्थान पर मिलेंगे प्रयोग किये गए निरोध।”

“वाह, ये लोग निरोध भी प्रयुक्त करते हैं? तब तो ये लोग समजदार हैं।”

“मंदोदरी, यह व्यंग की बेला नहीं है।”

“क्षमा नाथ। किन्तु यह तो कहो कि इस वर्ष आपको जलाया नहीं तो क्या हो गया? सदा धीर और अडग रहनेवाले आप इतनी सी छोटी बात से विचलित क्यों हो गए?”

“आप बड़ी भोली हैं रानी जी। इस मानव जात को आप समज नहीं पाई हो।”

“तो आप संजाइए, महाराज।” मंदोदरी ने मोहक स्मित किया। रावण उस स्मित से पिघलने लगा। उसने बढ़कर मंदोदरी का हाथ पकड़ लिया।
“छोड़ो ना। कोई देख लेगा।”
रावण ने हाथ छोड़ दिया। गहरी सांस लेते हुए कहा, “जल जाने से अधिक जलने की प्रतीक्षा में अनिश्चित काल तक खड़ा रहना अधिक दाहक होता है। इस पीड़ा को मैं आपको कैसे समजाऊँ, महारानी?”
“रावण को भी पीड़ा होती है वह मुह से विशेष कौन समज सकता है?”
“प्रतिवर्ष ये लोग मुझे जलाते हैं। रावण को भस्म करने का भ्रम लेकर चले जाते हैं। किन्तु मैं तो फिनीक्ष पंखी की भांति मेरी ही राख से प्रकट हो जाता हूँ। विकसित हो जाता हूँ और मेरे साम्राज्य को स्थापित कर देता हूँ।”
“ऐसे होता है क्या?”
“क्यों नहीं? यदि ऐसा न होता तो प्रति वर्ष मुझे जलाना क्यों पड़ता है? मैं पुन: जन्म लेता हूँ, पुन: जलता हूँ। युगों से ये चलता आया है। मुझे जलाकर भी वे मुझे परास्त नहीं कर पाए हैं।”
“तो इस वर्ष आपको न जलाने से क्या अंतर पड़ेगा?”
“बड़ा अंतर पड़ेगा, महारानी। प्रति वर्ष मैं अपनी रख में से पुन: सजीवन होता रहा हूँ। किन्तु इस वर्ष ऐसी सभी संभावनाओं को समाप्त कर दी है इन लोगों ने। इस प्रकार तो इन लोगों ने मेरी गति को रोक दी है। मैं पुन: कैसे जन्म ले पाऊँगा? पुन: मेरी सत्ता कैसे स्थापूंगा?”
“महाराज, शांत हो हाओ।”

“कैसे शांत रहूं? मेरे ही सामने मेरे ही पुतले को छोड़कर सब चले गए हैं। मुझे तो संदेह है कि मुझे ऐसे ही पुतला बनाकर सदा के लिए खड़ा रहने देंगे। समय रहते मेरे पुतले का मंदिर बना देंगे।”
“तो क्या? मंदिर बनेगा तो अच्छी बात है न?”
“मंदिर तो श्री राम का होता है जो अभी तक बना नहीं पाए किन्तु रावण के मंदिर बनाने में थोड़ा सा भी विलंब नहीं करेंगे।”
“आपका मंदिर बन जाए तो क्या आपत्ति है?”
“मंदिर बनाकर इसे प्रवास का स्थान बना देंगे। मेरे पुतले का दर्शन करने के लिए टिकट लागू कर देंगे। मेरे नाम से व्यापार करेंगे। मुझे देखने के लिए सारे संसार से लोग आएंगे। मेरे साथ सेल्फ़ी लेंगे। मेरी तस्वीरें सामाजिक माध्यमों पर रखेंगे। उस पर सारा जगत अपनी अपनी बुद्धि अनुसार मेरे चरित्र पर टिप्पणियाँ करेंगे। अपने विचारों से मेरे चरित्र के ऐसे ऐसे अर्थघटन और निष्कर्ष प्रस्तुत करेंगे जिसका न तो आपको ज्ञान है न मुझे।”
“माम लो कि यदि ऐसा कुछ न करे तो?”

“तो मेरे इस पुतले पर धूल, वर्षा, धूप, ठंड आदि अपना आक्रमण करेंगे। पंखी मेरे इस दस मस्तक पर बैठेंगे। मेरे पर पोटी भी करेंगे। मेरी बगल के कोने में घोंसले बनाएंगे। समय रहते कोई मेरे हाथ तोड़ डालेंगे। मेरे इन दस शीश में से कुछ को नष्ट कर देंगे। दस के स्थान पर सात आठ सिर वाला रावण होता है कभी? मेरे अस्तित्व पर सृष्टि को संदेह होने लगेगा। ऐसे तो मेरे अस्तित्व को ही छिन्न भिन्न कर डालेंगे।”

“नाथ, शांत हो जाओ। इन सब विचारों को त्याग कर शांत हो जाओ।”

“यह शांति ही मुझे विचलित कर रही है। मुझे जलाने को आई भीड़ का कोलाहल ही अचानक से शांत हो गया है तब से मुझे कहीं विश्राम नहीं मिल रहा। भीड़ की यह शांति, भीड़ का यह मौन मुझे व्याकुल कर रहा है। इस भीड़ में एक भी वीर नहीं है जो मुझे जला डाले? मेरे मन की अग्नि को बुझा दे? हे मानव, कोई तो मुझे जलाओ। कोई तो मेरी अग्नि शांत करो।”

“नाथ, चलो लौट जाते हैं।”

“कोई तो मुझे जलाओ, कोई तो मुझे जलाओ।” रावण पूरी शक्ति से चीख पड़ा। उसका स्वर प्रतिघोष बनकर शांत हो गया।

“नाथ, चलो यहाँ से। यहाँ सब बहेरे हो गए हैं। आपकी चीख कोई नहीं सुनेगा। ये लोग कुंभकर्ण नहीं है जो आपके आव्हान पर जाग जाए।”

दोनों निराश होकर लौटने लगे।

खेलते हुए दो बच्चे वहाँ आ गए।

“यह सब यहाँ वैसे ही पड़ा है। रावण को जलाए बिना ही क्यों चले गए सब?” एक ने पूछा।

“कोई कारण तो होगा। बड़े लोगों के कारण भी बड़े होते हैं। जो भी हो, हमें क्या?” दूसरे ने कहा और पहले को संकेत किया। दोनों ने वहाँ पड़े तेल, माचिस, पटाखे लेकर उससे आग लगा दी। पुतला धु धु कर जलने लगा। रावण और मंदोदरी अग्नि को देखकर रुक गए। दोनों के मुख पर संतोष के भाव उमड़ आए।

अस्तु।

[5] ज्ञात अज्ञात

वीणा के मोबाइल की घंटी बजी। उसने उसकी अवगणना की। पुन: बजी। पुन: अवगणना की। तीसरी बार भी उसी नंबर से फोन आया। उस समय वीणा का किसी से भी बात करने का मन न था। किन्तु तीन तीन बार एक ही नंबर से फोन आने पर उसने अनिच्छा होते हुए भी बात करने का निश्चय कर लिया। वह मोबाइल उठाती तब तक घंटी बंद हो गई। क्षणभर वह शून्य दृष्टि से फोन को देखती रही। पुन: उसी नंबर से फोन आया।

शीघ्रता से उसने फोन लिया। बात करने लगी।

“कौन?” उसके स्वर में अनिच्छा थी। किन्तु सामने से शांति और धैर्य से शब्द बोले गए, “वीणा जी, सूर्य प्रकाशन से मैं सूरज बोल रहा हूँ। आपके साथ दो मिनिट बात करना कहता हूँ। यदि आप....।”

सूरज ने शब्द अधूरे छोड़ दिया। वीणा को कुछ समज नहीं आया। वह मौन ही रही।

सूरज ने कहा, “यदि आप दो मिनट दे सको तो..।”
“सुरजभाई, आपका सूर्य प्रकाशन वही है कि जो लेखक ‘पवन’ की पुस्तकें प्रकाशित करता है?”
“हाँ, वही। आप पवन के पुस्तकों के केवल प्रथम पाठक ही नहीं अपितु पवन के सबसे बड़े प्रशंसक भी रहे हो।”
“जी।”
“बड़े दु:ख के साथ मुझे कहना पड रहा है कि दो दिन पूर्व ही लेखक पवन की मृत्यु हो गई है।”
“हाँ, मैंने समाचार पत्रों से जाना।”
“आज शाम लेखक पवन का श्रद्धांजलि कार्यक्रम आयोजित किया है। उसमें आपको मुख्य अतिथि के रूप में आमंत्रित कर रहा हूँ। समय और स्थल मैं आपको भेज रहा हूँ। आपको लेने गाड़ी भी आ जाएगी। आपको आना ही है।”
“नहीं। मैं नहीं आ पाऊँगी।”
“कोई समस्या है क्या?”
“दो दिन पूर्व ही मेरे पति जयंत की भी मृत्यु हुई है।”
“ओ ह। जानकर दु:ख हुआ।” सूरज घड़ी भर रुका। फोन के दूसरे छोर पर उसने एक गहरे नि:श्वास को सुना। सूरज ने क्षणों को बहने दिया। बीतने दिया। पश्चात बोला, “कैसा योगानुयोग? आपके पति जयंत की मृत्यु वे जिस लेखक के पुस्तकों के प्रथम ग्राहक थे उस लेखक पवन की मृत्यु के साथ हुई!”
वीणा ने शब्द सुने और बोली, “उन दोनों का कोई ऋणानुबंध होगा।”
“उसी ऋणानुबंध के कारण ही आपको श्रद्धांजलि कार्यक्रम में आना ही पड़ेगा।”
“दो दिन पूर्व ही अपने पति को खो देने वाली स्त्री की मानसिक स्थित का आपको अनुमान नहीं है, सूरजभाई। आप केवल पुस्तकों को प्रकाशित करना जानते हो। आपने कभी पुस्तकें पढ़ी भी हैं? उनके पात्रों से संबंध जोड़ा है? उनके सुख दु:ख, उनकी वेदना- संवेदना का अनुभव किया है? पुस्तकें छाप देने से वो संभव नहीं होगा। पुस्तकों को पढ़ना पड़ता है। अरे, पवन का ही कोई पुस्तक पढ़ लो। आप मेरी मनोस्थिति को समज जाओगे।”

“आपकी बात उचित है। पुस्तक छापने वाले को पढ़ने से अधिक बेचने में रुचि होती है। मैं ‘पवन’ का कोई पुस्तक अवश्य पढ़ूँगा। किन्तु आपको श्रद्धांजलि कार्यक्रम में अवश्य आना ही पड़ेगा।” सूरज ने आग्रह किया। वीणा ने तर्क देने का प्रयास किया तभी सूरज ने बात आगे बढाई।
“एक काम करते हैं, वीणा जी। लेखक पवन के साथ हम आपके पति जयंत की भी श्रद्धांजलि जोड़ दें तो आप आओगी न?”
“क्या? जयंत की श्रद्धांजलि पवन के साथ?”
“एक लेखक और उसके प्रथम ग्राहक की श्रद्धांजलि एक साथ!”
“किन्तु…।”

“और वह भी लेखक के सबसे बड़े प्रशंसक के द्वारा। सोचो कैसी अद्भुत होगी समय की वे क्षण?”
“किन्तु उसके लिए मैं अभी सज्ज नहीं हूँ। मुझ से यह नहीं होगा। जयंत की विदाय का आघात अभी शांत नहीं हुआ है।”
“इसी रूप से आप जयंत की विदाय को स्वीकार कर पाओगी। मन के भाव व्यक्त हो जाएंगे तो मन शांत हो जाएगा।”
“किन्तु...।”
“अब किन्तु शब्द के लिए कोई अवकाश ही नहीं है वीणा जी। संध्या के साढ़े पाँच बजे तैयार रहना। आपको लेने गाड़ी आ जाएगी।” सूरज की छोर से फोन सम्पन्न हो गया।
वीणा लंबे समय तक कान पर मोबाइल लगाए खड़ी रही। उसी दुविधा में जब वह सोफ़े पर बैठ गई तभी उसकी तंद्रा टूटी।
जाऊं या न जाऊं की अनिश्चितता में ही वीणा की प्रभात व्यतीत हो गई। दोपहर की धूप घर के पश्चिम छोर से घर में प्रवेश कर गई। वह शयन कक्ष में गई। उसकी दृष्टि गुलाब की माला पहनी तस्वीर पर पड़ी। वह उसे अनिमेष देखती रही। जैसे वह जयंत से पूछ रही हो, “मुझे जाना चाहिए या नहीं?”
जयंत ने तस्वीर से स्मित दिया हो ऐसा उसे आभास हुआ। जब जब जयंत पवन की कोई नई पुस्तक लाकर देता था तब तब उसके मुख पर ऐसा ही स्मित होता था। वीणा को उसका स्मरण हो आया। उसने कपाटिका में पड़े पवन के पुस्तकों को देखा। दो चार पुस्तक टीपॉय पर भी पड़े थे। उसने ‘अज्ञात’ नामका पुस्तक उठाया। तीन दिन पूर्व ही इसको उसने पूरा किया था। पवन की वह अंतिम पुस्तक थी। जयंत ही लेकर आया था।
वह पुस्तक के पृष्ठों को पलटने लगी। उसके पात्र उसकी आसपास खेलने लगे। कथा के सूत्र मन में उभरने लगे। घटनाओं का स्मरण होने लगा। जैसे कथा उसकी आँखों के सामने ही घट रही हो वैसे वह सारी कथा को उन क्षणों में मन ही मन पढ़ गई।
उसने आँखें बंद कर ली। कुछ ही पल में सारी कथा और सभी पात्र दूर हो गए। वह चमकी। उसने आँखें खोल दी। प्रत्यक्ष कुछ भी न था। एक गहन श्वास लिया, पानी के दो चार घूंट पिए और कपाटिका के समीप चली गई। उसमें सजी सभी साड़ियों को देखने लगी। एक साड़ी चुनी, निकाली और शैया पर रख दी। संध्या होने की प्रतीक्षा करने लगी।

#$% #$%

नगर का विशाल सभाखण्ड अपने प्रिय लेखक पवन को श्रद्धांजलि अर्पित करने के लिए आए असंख्य प्रशंसकों से भर गया। आज तक जिसे पढ़ते रहे है उसे कभी किसी ने नहीं देखा था। जिसके विषय में कुछ भी नहीं जानता ऐसा पाठक वर्ग उत्कंठा से, उत्सुकता से और कौतुक से पवन को देखने-जानने की प्रतीक्षा करने लगा।

सूर्य प्रकाशन के सूरज के साथ सुंदर साड़ी में सज्ज स्त्री को आती देख सभा शांत हो गई। सूरज और उस स्त्री ने अपना अपना स्थान ले लिया। सभी उस स्त्री को ही निहार रहे थे।

सभी के मन में प्रश्न थे –

“कौन है यह स्त्री?”

“पहले तो कभी देखि नहीं।”

“यह स्त्री ही पवन है।”

“हाँ, हाँ, यही स्त्री पवन है।”

“अरे, पवन तो मर चुके हैं। जीते व्यक्ति को श्रद्धांजलि होती है क्या?”

“यह सब नाटक लगता है।”

“नाटक? कैसा नाटक?”

“श्रद्धांजलि कार्यक्रम में मरनेवाले की तस्वीर होती है, उस पर माला होती है। वहाँ दीपक जलता होता है। किन्तु यहाँ तो?” उसने बात अधूरी छोड़ दी, सभा पर।

“तब तो यह स्त्री ही पवन है।”

ऐसी अनेक सत्य और मिथ्या बातें समग्र सभाखण्ड में घूमने लगी। सभा ने ऐसी अफवाहों को स्वीकार लिया। सभा का कौतुक शांत हो गया। बस अब उस स्त्री को सुनने की ही उत्कंठा शेष बची थी।

सूरज उठा, माइक पर बोलने लगा।

“मैं पवन के सभी प्रशंसकों का स्वागत करता हूँ। अभी तक गुप्त रहे पवन को आज आपके समक्ष प्रस्तुत कर उसके ऋण से मैं मुक्त हो जाऊंगा।”

सूरज के शब्दों ने सभा की अफवाह को सत्य मान लेने का सशक्त कारण दे दिया हो ऐसे सभी उस स्त्री को ही पवन मान कर उसे ही देखने लगे। किन्तु, आप तो जानते ही हो कि वह स्त्री पवन नहीं वीणा है। जयंत की पत्नी है। सभा भले ही उसे ‘पवन’ मान कर प्रसन्न होती हो। हम तो सूरज जो कह रहा है उन पर ध्यान देते हैं।

“पवन को श्रद्धांजलि अर्पण करने के लिए हमारे साथ वीणा जी आई हैं।” सूरज ने वीणा की ओर संकेत किया। सभा तो सूरज के संकेत से पूर्व ही वीणा को देख रही थी।

“वीणा के पति जयंत की मृत्यु योगानुयोग से दो दिन पूर्व ही पवन की मृत्यु के दिन ही हुई है। जयंत पवन के प्रकाशित सभी पुस्तक का प्रथम खरीददार था। वीणा जी उस पुस्तक को शीघ्र ही पढ़ लेती थी। पवन की वीणा जी सबसे बड़ी ‘चाहक’ एवं ‘प्रशंसक’ रही हैं। यही कारण है कि वे ही मुख्य अतिथि बनकर हमारे साथ हैं। मैं वीणाजी से प्रार्थना करता हूँ कि वे अपने शब्दों से जयंत और पवन को श्रद्धांजलि अर्पण करें।” सूरज बैठ गया।

वीणा जी ने मंच संभाला।

“आज की इन क्षणों को मैं संयोग कहूँ या नियति का कोई खेल? इन दोनों की मृत्यु एक ही दिन हो, एक ही स्थान पर एक साथ दोनों को श्रद्धांजलि अर्पण हो! ईश्वर की लीला इतनी अज्ञात होगी यह आज ही जाना। आज ही माना।

पवन जी के साथ मेरा संबंध जयंत ने ही जोड़ दिया था।” वह रुकी। एक गहन सांस ली, सभा पर दृष्टि डाली और आगे कहने लगी।

“मैं आपको हमारे विवाह के दूसरे ही दिन की संध्या का दृश्य कहती हूँ। मुझे आज भी स्मरण है उसका। जयंत मेरे पास आकर बोला,

जयंत ने कहा, “वीणा, मैंने एक वार्ता लिखी है। तु स्वयं पढ़ेगी या मैं सुनाऊँ?”

“वार्ता और तू?” वीणा ने प्रश्न किया। “मुझे वार्ता पढनी पसंद है किन्तु तेरी वार्ता?”

जयंत मेरे प्रतिभाव से क्षणभर स्तब्ध हो गया। क्षण में ही गंभीर हो बोला, “मैं तो उपहास कर रहा था। पाठशाला में भी मुद्दों पर से वार्ता लिखना भी मुझे नहीं आता था। किन्तु मुझे जो जाना था वह मैं जान चुका कि तुझे वार्ताएं पढ़नी पसंद है तो मैं तुझे अच्छे अच्छे लेखकों की उत्तम कृतियाँ लाकर दूंगा। तू अपनी रुचि पूरी करना। जीवन पर्यंत इस रुचि को बनाए रखना।” और वह खुलकर हंस पड़ा।

“एक महीने के पश्चात एक संध्या को उसने मेरे हाथ में नवीन प्रकाशित पुस्तक रख दी। मैंने उसका नाम पढ़ा, ‘ज्ञात’। लेखक थे पवन। मैंने उसे पढ़ा। मुझे अत्यंत पसंद आई।

जयंत जान गया कि मुझे पवन की पुस्तक अधिक पसंद आई है। पवन की पुस्तकें जब जब प्रकाशित होती, जयंत तब तब मुझे लाकर देता। मैं पढ़ती और वह मुझे देखा करता। पढ़ते पढ़ते मेरे मनोभाव बदलते रहते जिसे जयंत जान लेता था। इस प्रकार मैं कब पवन की लेखनी की चाहक बन गई उसका मुझे ध्यान ही नहीं रहा।

समय के साथ साथ मैंने पवन की छब्बीस की छब्बीस पुस्तकें पढ़ ली हैं। यदि उसने सौ पुस्तके लिखी होती तो भी जयंत मुझे वे लाकर देता और मैं उन सभी को पढ़ लेती। किन्तु दु:ख की बात है कि आज न तो पवन है न जयंत!” बोलते बोलते वीणा भावुक हो गई। आगे नहीं बोल सकी। आँखों में आये अश्रु के साथ बैठ गई। कुछ क्षण के लिए सभा भी संवेदना में डूब गई।

स्थिति को संभालते हुए सूरज उठा। सभी को शांत और स्वस्थ होने का समय दिया। जब सभी शांत हो गए तब सूरज बोला।

“पवन मेरा बचपन का मित्र। जयंत भी। वर्षों पूर्व की बात है। ‘पवन’ मेरे पास आया। उसकी प्रथम रचना ‘ज्ञात’ छापकर पूर्ण होने को थी। मैंने उसे कहा, “बस, पाँच सात दिनों में यह रचना पाठकों के हाथों में होगी। तुझे इसमें कुछ और जोड़ना हो तो बता दे।”

“जोड़ना कुछ नहीं है, कुछ काटना है।” पवन ने कहा था।

“क्या? कोई प्रकरण घटाना है?”

“प्रकरण तो नहीं हटाना है, परिचय हटाना है। मेरा वास्तविक नाम, मेरा परिचय, मेरी तस्वीर सब हटाना है।”

“किन्तु लेखक के रूप में तो तेरा नाम लिखना पड़ेगा न?”
“नहीं। वो भी नहीं।”
“किन्तु अचानक ऐसा क्यों?”
“वो मैं तुम्हें कभी बताऊँगा। अभी तो इतना ही कर। इन सब को हटाने का कारण पूछा था ना तूने? तो सुन, इस रचना का लेखक अब मैं नहीं रहा।”
“तो कौन है?”
“पवन। यह रचना पवन ने ही रची है।”
“मैं जानता हूँ कि इसे तूने ही रचा है। तो यह पवन कौन है?”
“यह बात हमें गुप्त रखनी है। मेरी प्रत्येक रचना में अब से लेखक का नाम ‘पवन’ ही रहेगा।”
“किन्तु ऐस क्यों? कब तक?”
“तू मेरा मित्र है तो मेरे लिए इतना काम तो कर सकता है न?”
“करूंगा। अवश्य करूंगा। किन्तु ऐसा क्यूँ और कब तक? उसका तो उत्तर दे।”
“तुम्हारे क्यूँ का उत्तर नहीं दूंगा। कब तक का उत्तर है कि जब मेरी मृत्यु हो जाएगी तब तू एक श्रद्धांजलि कार्यक्रम तो रखेगा न? मेरे लिए इतना तो करेगा ही न? उस दिन तू पवन का परिचय सारे संसार को दे देना।”
अचानक सूरज ने उठकर पवन को थप्पड़ मार दी। क्षणभर पवन विचलित हो गया। उसने सूरज की आँखों में क्रोध और अरुचि देखि।
“शांत हो जा सूरज।”
“तू जानता है कि तू क्या बोल रहा है? अभी तो जीवन का प्रारंभ किया है और तू तेरी मृत्यु की बात लेकर मेरे प्रत्यक्ष आ खड़ा है?” सूरज अधिक क्रोधित हो गया।
पवन ने उसे हाथ पकड़कर कुर्सी पर बैठाया। पानी पिलाया और विनम्र भाव से सम्मुख खड़ा हो गया।
“खड़ा क्यूँ है? बैठ जा।” सूरज ने कहा। पवन बैठ गया।
“तेरा नाम गुप्त रखूँगा किन्तु मरने की बात नहीं करना। नहीं तो सारे जगत में तुझे प्रसिद्ध कर दूंगा।”
“मैं तेरी बात मानूँगा, तू भी मेरी बात मानना कि …।”
“कि मैं तेरा परिचय कहीं भी प्रकट ना करूँ, यही न?”
“कितना समजदार है मेरा मित्र सूरज?”
“किन्तु एक बात समज नहीं आई कि इस रचना का नाम ‘ज्ञात’ रखा है और लेखक महाशय अज्ञात रहना चाहता है?” सूरज रुका। पूरी सभा उसे कान देकर सुन रही थी। उसने बात आगे कही।
“बिना कुछ कहे वो चला गया। उसकी प्रथम रचना ‘ज्ञात’ प्रकाशित हो गई। मैंने वचन निभाया। और उसकी छब्बीस की छब्बीस रचनाओं तक उसका परिचय गुप्त रखा है। पवन के हजारों पाठकों ने पत्र द्वारा, फोन द्वारा पवन के विषय में जानना चाहा। किन्तु मैंने उसका परिचय गुप्त ही रखा। मैं अपना वचन कैसे तोड़ सकता था, भला?

आज उस पवन को आपके समक्ष प्रकट करने का समय आ गया है। पीछे परदे पर क्षण में ही आप सब पवन को देख सकोगे, पहचान सकोगे।”

सूरज ने शब्दों को विराम दिया। सभाखण्ड का प्रकाश सो गया, पर्दा जाग उठा। धीरे धीरे उसमें एक आकृति उभरने लगी। सब की आँखें उत्कंठा से परदे पर ही स्थिर थी। कुछ ही समय में आकृति स्पष्ट होने लगी। अंतत: एक व्यक्ति की स्पष्ट आकृति परदे पर दिखने लगी। सभी पवन को देखकर उसको पहचनाने का प्रयास करने लगे।

वीणा उस आकृति को देख चौंक गई। उसने दो चार बार पलकें झपकीं। अपने गालों को भी थपथपाया। वह जागृत ही थी किन्तु आकृति देखकर हतप्रभ रह गई। वह जोर से चीखी “ज...यं..त।”

भीड़ के उन्माद में उसकी चीख दब गई।

अस्तु।

12/03/2025

[6] तब भी आज भी

विशाल की टेक्सी जुहू बीच की ओर दौड़ रही थी। उससे भी अधिक गति से उसका मन कब का बीच पर जा चुका था। टेक्सी की खिड़की से बाहर का मुंबई धीरे धीरे सरक रहा था। वह शीघ्र ही बीच पर पहुंचना चाहता था किन्तु मुंबई की भीड़ टेक्सी की गति को अवरुद्ध कर रही थी। तेंतीस वर्ष पूर्व की मुंबई नगरी उसके भीतर कहीं अभी भी बसी हुई थी। आज की मुंबई उसे अपरिचित लगी।

टेक्सी मिठीबाई कॉलेज के समीप ट्राफिक सिग्नल पर आकर रुक गई। सिग्नल पर लाल रंग की प्लेट पर 179 का अंक दिख रहा था। मीठीबाई कॉलेज को स्मरण करने के लिए उसके पास 179 सेकंड थी।

1981 से 1984। तीन वर्ष! कितने अद्भुत थे वे दिन! उसका मन कॉलेज की दीवार लांघ कर भीतर दौड़ गया। पुस्तकालय की बेंच पर जा बैठा।

परीक्षा के दिन निकट थे। विशाल इतिहास को लेकर बी ए कर रहा था। वह घट चुके इतिहास को समझने का प्रयास कर रहा था। दूसरी बेंच पर दो तीन विद्यार्थी कालिदास के ‘मेघदूत’ पर चर्चा कर रहे थे। विशाल ने उसे सुना। उसे उसमें रुचि होने लगी। इतिहास छोड़ वह ‘मेघदूत’ पर आ गया। मेघदूत पढ़ लेने के लिए उसके भीतर तीव्र झँखना जाग उठी।

“एक दिन के लिए मेघदूत दे सकती हो?” उसने सीमा से पूछा।

“यदि इतिहास का विद्यार्थि संस्कृत पुस्तक पढ़ने के लिए माँगता है तो मैं मेघदूत देने को उत्सुक हूँ किन्तु बदले में इतिहास की पुस्तकें पढ़ने की शर्त हो तो मुझे वह स्वीकार्य नहीं है।” सीमा कुछ कहे उससे पूर्व ही अपनी नटखट मुद्रा के साथ रुबीना कूद पड़ी। उसने विशाल के समक्ष मेघदूत की पुस्तक धर दी।

विशाल को उसकी वह मुद्रा पसंद आई। उसने अपनी तरफ बढ़े हाथ और मेघदूत दोनों को एक मधुर स्मित देते हुए मेघदूत ग्रहण कर लिया। “नहीं, नहीं। ऐसी कोई बात नहीं है।” उसने रुबीना की आँखों में आँखें डालते हुए कहा। रुबीना की आँखों में कुछ था जो आँखों से ही होते हुए विशाल के ह्रदय तक उतर गया। मेघदूत के साथ विशाल उसे भी अपने साथ ले आया।

उस रात्रि होस्टेल में पूरी रात जागते हुए विशाल ने मेघदूत पढ़ डाली। अपने भीतर उतार दी। अब तक पढ़ा इतिहास उसे बिल्कुल शुष्क लगा, मेघदूत रस से पूर्ण!

इतिहास छोड़ उसे संस्कृत पढ़ने का मन हो आया। किन्तु उसके लिए अब अधिक विलंब हो चुका था। विशाल अपनी पढ़ाई का विषय बदल न सका। किन्तु उसकी रुचि बदल गई। उसे संस्कृत साहित्य में रुचि होने लगी, रुबीना में भी।

रुबीना उसे संस्कृत की पुस्तकें देती, वह पढता, रुबीना से चर्चा करता। रुबीना भी उस चर्चा में उत्साह प्रकट करती। उचित मार्गदर्शन भी करती।

विशाल हिमाचल प्रदेश का रहनेवाला था। इतिहास के साथ बी ए करने मुंबई आया हुआ था। परीक्षा सम्पन्न होते ही पैंतालीस दिनों का लंबा अवकाश प्रारंभ हो गया। वह अपने गाँव लौट आया। साथ लाई संस्कृत की अनेक पुस्तकें पढ़ने लगा।

पुस्तकें ले वह पहाड़ों में चला जाता। पहाड़ों को पुस्तकें पढ़कर सुनाता। कथा में और पात्रों में खो जाता। किसी बात पर अटक जाता तब दूर सुदूर पहाड़ों पर जमी बर्फ को निहारा करता। उसे मन होता कि कथा पर, पात्रों पर, घटनाओं पर वह किसी के साथ बात करे, चर्चा करे किन्तु उसके साथ, उसके आसपास कोई न था।

रुबीना यहाँ होती तो?

वह रुबीना की झँखना करने लगा। दिन बितते गए उसके साथ रुबीना के लिए झँखना भी तीव्र होती गई। ‘ये अवकाश कब पूरे होंगे? इतना लंबा अवकाश क्यों होता होगा?’

एक दिन वह लंबा अवकाश भी पूरा हो गया। वह मुंबई आ गया। रुबीना मुंबई में ही रहती थी। रुबीना से मिलने, उससे बातें करने वह अधीर था। किन्तु कॉलेज प्रारंभ होने में अभी दो दिन शेष थे।

इन दो दिनों तक रुबीना और विशाल बीच पर चलते रहे, विशाल ने पढ़ी थी उन पुस्तकों पर चर्चा करते रहे। विशाल को वे दो दिन बड़े अच्छे लगे। कॉलेज प्रारंभ हो गई। पुन: वह शुष्क इतिहास पढ़ने लगा। संस्कृत साहित्य भी पढ़ता रहा।

विशाल को रुबीना भी भाने लगी। रुबीना भी उसके साथ पूरे उत्साह से बातें करती। उसका ऊष्मा सभर साथ विशाल को छु गया। विशाल उसे चाहने लगा।

एक दिन विशाल ने मन बना लिया कि वह रुबीना को स्पष्ट कह देगा, अपने प्रेम का प्रस्ताव रख देगा। रुबीना भी उस दिन विशाल को मिलने के लिए उत्सुक थी।
“विशाल, मेरा एक काम करोगे?” विशाल कुछ बोले उससे पूर्व ही रुबीना ने पूछ लिया।
“मित्रता में ऐसे विवेक की आवश्यकता नहीं होती है, रुबीना। तू बोल, बिना संकोच के बोल। तेरे लिए तो..।” विशाल ने बाकी शब्दों को विशेष आशय से टाल दिए।
“तू वो जसप्रीत को तो जानता है न?”
“वही जो कविताएं लिखता है, गझलें लिखता है?”
“हाँ, वही। उसके साथ मेरा परिचय करा सकता है?” रुबीना ने विशाल के निकट जाकर कहा। विशाल ने उसकी आँखें देखि। उसमें एक अपील थी, एक अरज थी। एक सागर था जिसकी लहरें किसी किनारे की खोज में व्याकुल थी।
विशाल, उसका प्रेम और उसका निश्चय सभी उस लहरों में बह गए। उसने आँखें बंद कर ली। गहरी सांस ली। हाथ में पकड़े भास के नाटक ‘स्वप्नवास्वादता’ को छाती पर जोर से दबा दिया। पूरा साहस जुटाते हुए आँखें खोली।
“रुबीना, मैं प्रयास करूंगा।” इतना ही बोल पाया विशाल। होंठों पर बलात लाए गए स्मित को रुबीना की तरफ लहराकर वहाँ से शीघ्रता में लौट आया। हॉस्टल पर आकर, कक्ष को अंदर से बंद कर शैय्या पर गिर पड़ा। आँखों के किनारों पर समुद्र की लहरें उमड़ आई।
विशाल ने रुबीना की मित्रता के ऋण में उसका परिचय जसप्रीत से करा दिया। रुबीना अब कवचित ही विशाल के साथ देखने को मिलती। विशाल ने शुष्क इतिहास में स्वयं को डुबो दिया। रुचिप्रद संस्कृत साहित्य अब अकेला हो गया। रुबीना नाम की घटना को वह भूलने का प्रयास करने लगा।
सिग्नल पर की 179 सेकंड सम्पन्न हो गई। टेक्सी बीच की तरफ दौड़ने लगी। कॉलेज को छोड़ विशाल बीच तक जा रहे मार्ग पर आ गया। पृथ्वी थियेटर को पार कर टेक्सी बीच पर जाकर रुकी।
कई सहपाठी आ चुके थे। विशाल रुबीना को ढूँढने लगा। दूर किसी कोने में, सागर की लहरों में भीगती रुबीना को उसकी आँखों ने देखा। उसने इतने वर्षों के पश्चात भी रुबीना को पहचान लिया। वह दौड़ गया रुबीना के पास।
रुबीना की पीठ पर हाथ रखते हुए बोला, “रुबीना!”
जसप्रीत के विचारों में खोई रुबीना ने पीठ घुमाई। विशाल को देखते ही रही। उसकी आँखों में अपरिचित भाव थे। विशाल जान गया कि रुबीना ने उसे पहचाना नहीं है। तैंतीस वर्ष किसी चेहरे को भूल जाने के लिए पर्याप्त होते हैं।
“मैंने पहचाना नहीं। आप कौन?” रुबीना ने बड़ी सहजता से पूछा।
‘स्त्रियाँ ऐसी क्यों होती हैं? पुरुषों को पहचानने में सदा भूल कर लेती हैं। यौवन में पुरुष का ह्रदय और वर्षों पश्चात मिलने पर उसका चेहरा!’ विशाल स्वगत ही बोला।
“मैं, विशाल। कुछ स्मरण आया?” विशाल ने उसके मुख पर दृष्टि जमा दी।

रुबीना बीत चुके समय की तिजोरियों के सभी खानों में ढूँढने लगी। कुछ समय लगा किन्तु उसके हाथ विशाल के साथ बिताए समय का खजाना लग ही गया।
"बी ए विथ हिस्ट्री? मेघदूत, कादंबरी, शिशुपाल वधम..।" रुबीना बोलने लगी।
"पंचतंत्र, शाकुंतल, मालविकाग्नि मित्र, स्वप्नवास्वादत्ता...।"
"बस बस। यह सूची लंबी है, विशाल।" दोनों हंस पड़े।
"चलो अच्छा हुआ कि तुम्हें स्मरण तो हो आया।"
"इसी सागर तट पर लहरों के साथ खेलते हमारे चरण चलते रहते थे और हमारे साथ कालिदास, माघ, भास, त्रिविक्रम भट्ट, भर्तृहरि आदि भी चलते थे। मुझे वह सब स्मरण हो आया है।"
"तो चल, आज पुन: उन क्षणों को जी लेते हैं। तू है, मैं हूँ। सागर है, लहरें हैं, वही किनारा है। सब वैसा का वैसा ही है। कुछ भी नहीं बदला।" एक लहर विशाल के ह्रदय को भिगो गई।
"बहुत कुछ बदल गया है। तैंतीस वर्षों का एक पहाड़ उग निकला है, इतने समय में। कैसे रहे तेरे इन तैंतीस वर्ष? अपने विषय में कुछ कहे। तेरी पत्नी, तेरे बच्चे, तेरे संसार के ...।"

"क्या करोगी इन बातों को जानकर? वर्षों के अंतराल के पश्चात मिले हैं तो ऐसे तुच्छ प्रश्नों को पूछकर, उनके सत्य या मिथ्या उत्तरों को सुनकर ही लौट जाना है? तो हमारे मिलने का प्रयोजन ही क्या है? किसी को वर्षों के पश्चात मिलें और उनका सानिध्य प्राप्त न हो सके तो? तुम जो पूछ रही हो वह सब बातों का इस समय क्या औचित्य है? मैं तो मेरे साथ तेरे होने को पाने के लिए आया हूँ। यदि तू इन क्षणों को दे सके तो...।" विशाल सागर तट पर चलने लगा। लहरें उसके पैरों को भिगोने लगी। उसके पैरों को छु रहा खारा पानी उसकी आँखों से बहता हुआ गालों को भिगो गया।
रुबीना विशाल के पीछे पीछे चलने लगी। शीघ्र ही वह उसके साथ हो गई। सागर की भीगी रेत पर चार चरण एक साथ पड़ने लगे। सागर उन्हें भिगोता रहा।
रुबीना और विशाल संस्कृत की कई महान रचनाओं की चर्चा करते रहे। तैंतीस वर्ष पूर्व के विशाल और रुबीना पुन: जीवित हो उठे। रुबीना के सनिध्य को विशाल भोगता रहा।
"तेरे भीतर कालिदास, बाण, भास आदि सब आज भी वैसे ही बसे हुए हैं। तैंतीस वर्ष पूर्व जैसी और जितनी थी वैसी ही जिज्ञासा आज भी है। संस्कृत के प्रति तेरे इस प्रेम को मैं वंदन करती हूँ।" रुबीना ने दो हाथ फैला कर, शीश झुका दिया।
'मेरे भीतर और भी बहुत शेष है, रुबीना। तूने मेरे संस्कृत प्रेम को तो परख लिया किन्तु...। जाने दे, रुबीना। उन बातों का अब कोई अर्थ नहीं रहा।' विशाल ने अपने विचारों को नियंत्रित किया।
"वो सब तेरे कारण संभव हुआ, रुबीना। तूने मुझे मेघदूत दिया और..।" विशाल आगे कुछ बोल न सका। बस चलता रहा। रुबीना भी।
लंबे मौन के पश्चात विशाल ने पूछा, "रुबीना, जसप्रीत आया है क्या? तू मिली उससे?"
"हाँ, मिली उससे।"

“कैसा रहा मिलन? बड़ी रंगीन होगी वे क्षण। हैं न?” विशाल की आँखों में कोई तूफान नाचने लगा।
“अफसोस। ऐसा कुछ भी ना हो सका। बड़ा रूखा सूखा रहा हमारा मिलन।”
“क्यों? वह तो गझलें लिखता है। तेरे साथ मिलन पर कोई शृंगारिक गझल तो सुनाई ही होगी।”
“गझल? नहीं रे। वह तो मुझे पहचान ही न सका। अनेक प्रयासों के पश्चात कठिनाई से उसे मेरा स्मरण हो पाया।” रुबीना निराश हो गई।
“ये लड़के ऐसे क्यों होते हैं? यौवन में वे लड़की के ह्रदय और वर्षों पश्चात लड़की के चेहरे को जानने में भूल क्यों कर बैठते हैं?” अपने प्रश्न के साथ रुबीना विशाल को देखती रही।
“कुछ समय पहले मेरे साथ भी ऐसा ही हुआ था।” विशाल हंसने लगा।
“अर्थात? तुम्हारे साथ भी जसप्रीत ने वही किया?”
“नहीं। मैं तो जसप्रीत को मिला भी नहीं हूँ।”
“तो कौन था?”
“कोई है जो मुझे भी पहचान नहीं पाया था।”
“तुम किसकी बात कर रहे हो?”
“उसे हम रुबीना के नाम से जानते हैं।”
“मैं?”
“तू भी कहाँ मुझे पहचान सकी थी? भूल तो तू भी गई थी।” विशाल आगे नहीं बोल पाया। रुबीना रुक गई। सागर में लौट रही लहर उसके पैरों से रेत को सरकाती हुई सागर में मिल गई। रुबीना ने संतुलन खो दिया। निकट ही खड़े विशाल ने रुबीना का हाथ पकड़ लिया। अपनी मुट्ठी में उस हाथ को जकड़ लिया। दूसरी लहर आई। दोनों को नखशिख भिगो गई।

अस्तु ।

[7] बरसो प्रेमरस

जेब से कागज निकालकर एक बार पुन: मैं पढ़ गया। “मिस झरीना निकोलस, 44, व्हाइट टाउन, बीच रोड, पॉन्डिचेरी।”

फ्रेंच पद्धति से बना और मेरे सम्मुख चुपचाप खड़े बंगले पर लिखा नंबर 44 ही था। मुझे संतोष हो गया कि कच्छ से निकलते हुए मैं जिस स्थान पर जाना चाहता था वह यही घर है।

द्वार पर या दीवार पर कहीं कोई नाम नहीं लिखा था। घर में प्रवेश हेतु एक बड़ा द्वार धकेल कर खोलना पड़ा। द्वार के खुलने की ध्वनि शांत हवा में विलीन हो गई। बंगले के भीतर सब कुछ स्थिर था।

सुंदर खिली घास को पार कर, तीन चार सीढ़ियाँ चड़कर मैंने घर के द्वार पर थपकी लगा दी। द्वार के खुलने की प्रतीक्षा करने लगा। यह द्वार खुलेगा या नहीं? खुलेगा तो कितने समय के पश्चात? कदाचित न भी खुले।

बंद द्वार पर थपकी मार देने के पश्चात उसके खुलने की प्रतीक्षा करना सबसे उबाऊ होता है। कदाचित समय, इसी समय सबसे मंद गति से बीतता है। मैं यह जानता हूँ इसलिए मेरे साथ आप भी इस उबाऊ प्रतीक्षा करते रहो वह मुझे स्वीकार्य नहीं, आपको भी नहीं।

यह द्वार खुले, उसके उस पार झरीना निकोलस अपने अधरों पर स्मित लेकर स्वागत करे, कदाचित ना भी करे। तब तक आपको कच्छ से पॉन्डिचेरी तक यात्रा कर आने का कारण, रहस्य, बता देता हूँ। प्रतीक्षा के समय में कुछ तो करना होगा न?

मैं यहाँ किसी झरीना निकोलस को मिलने नहीं आया हूँ। किन्तु मेरा काम कुमारी झरीना निकोलस को मिले बिना संभव नहीं है इसी कारण मुझे और आपको इस कुमारी झरीना निकोलस को मिलना ही पड़ेगा। यह झरीना निकोलस बड़ा लंबा नाम है, है न? उसे केवल झरीना ही कहें तो? तो यह निर्णय हुआ कि उसे हम झरीना ही कहेंगे।

वास्तव में मैं तिलोत्तमा को मिलने आया हूँ। हाँ, तिलोत्तमा को।

अब आप उलझ गए न? कि यह तिलोत्तमा कौन है?

धैर्य रखें। मैं सब कुछ बता दूंगा। बस साथ बने रहिए।

कॉलेज के प्रारंभ की दिनों में मेरी आर्ट्स कॉलेज के विशाल पुस्तकालय की कपाटिकाओं में बंदी पुस्तकों को मैं एक एक कर देख रहा था। कितने ही विद्वान और उनके पुस्तकों के नाम पढ़ता गया। जैसे जैसे नाम पढ़ता जाता वैसे वैसे प्रत्येक पुस्तक अपनी तरफ खींचती और जैसे कह रही हो कि सबसे पहले तू मुझे पढ़ना। पुस्तकों द्वारा ऐसा स्वागत मुझे भा गया। मैं पुस्तकों को हाथ में लेता, पृष्ठों को पलटता और पुन: उसे उसके स्थान पर रख देता, इस वचन के साथ की मैं उसे अवश्य पढ़ूँगा।

कुछ ही दिनों में मैंने अधिकांश पुस्तकालय को देख लिया, समज लिया। अब दूर कोने की दो तीन पंक्तियों को देखना ही शेष था। मैं वहाँ जा पहुंचा, सभी कपैटाक सम्पन्न हो गई।

‘अब कोई पुस्तक मेरी दृष्टि से बचा नहीं है।’ मन मन ही मन बोला। अंतिम कोने की दीवाल के सहारे मैं खड़ा रह गया। मुझे गर्मी लग रही थी। मैंने इधर उधर देखा, कहीं भी पंखा नहीं था। मैं जहां खड़ा था वहीं एक खिड़की थी जो बंद थी। उस पर मकड़ी के असंख्य जाले थे। कदाचित वर्षों से यह खिड़की खुली ही नहीं होगी।

मैंने उसे खोलने का प्रयास किया। वह जम गई थी। मैंने थोड़ा और प्रयास किया। वह खुल गई। बाहर की हवा और प्रकाश के साथ कुछ भीतर प्रवेश कर गया। नीचे गिर गया। मैंने उसे उठाया। वह एक पुस्तक थी। वर्षों से बंद खिड़की के द्वार और मकड़ी के जाले के बीच एक पुस्तक!

यह पुस्तक यहाँ कैसे पहुंचा होगा? क्या इसने विद्रोह किया होगा? बंद कबाट के बंधन को तोड़कर भाग जाना चाहता होगा? या कुछ नए मार्ग पर चलते हुए यहाँ फंस गया होगा?

मेरी कल्पनाओं को नियंत्रित किया और मैंने पुस्तक पर जमी धूल हटा दी। जालों को भी साफ किया। पुस्तक का नाम पढ़ा - हिन्दी में लिखा था ‘बरसो प्रेमरस अनाराधार’, लेखिका - तिलोत्तमा।

आहा! कितना अद्भुत नाम है इसका? और उसकी लेखिका का भी? मुझे तो प्रथम दृष्टि में ही उस पुस्तक से प्रेम हो गया। मैंने पृष्ठ पलटा। उस पर पुस्तक के प्रकाशन का वर्ष अंकित था- 1977. वह एक उपन्यास था।

“मुझे यह पुस्तक मिल सकता है?” सदैव गुस्से में रहती 45/50 वर्ष की ग्रंथपाल स्मिता को मैंने प्रार्थना की.

स्मिता ने उस पुस्तक को हाथ में लिया, उसे पलटने लगी। सीधे ही पृष्ठ क्रमांक 23 खोला। उस पर ग्रंथालय की मुद्रा और क्रमांक के साथ दिनांक भी लिखी हुई थी।

एक तीखी दृष्टि मुझ पर फेंकती हुई वह बोली, “तुझे कहाँ से मिली यह पुस्तक?”
मेरे उत्तर की प्रतीक्षा किए बिना ही वह कॉम्प्युटर में कुछ ढूँढने लगी। पाँच मिनट तक उसके मुख के बदलते भावों को मैं निहारता रहा। मुझे विश्वास होने लगा कि कुछ ठीक नहीं है। स्मिता मुझे देखे उससे पूर्व ही भाग जाने का निश्चय कर लिया। मैं धीरे से सरकने जा ही रहा था तभी स्मिता बोली, “क्या नाम है तेरा?”
मैं रुका, “संकेत सोम।”
“तेरा धन्यवाद कैसे करूँ, संकेत सोम ?” स्मिता के होंठों पर प्रथम बार स्मित देखा। उसे देख मेरा मन शांत हो गया।
“चार वर्ष पूर्व ग्रंथालय को डिजिटल बनाया गया। उस समय से यह पुस्तक गायब थी। ग्रंथपाल के रूप में इतने वर्षों के कार्यकाल में कभी भी एक भी पुस्तक इधर उधर नहीं हुई थी। किन्तु कौन जाने उस समय यह एक पुस्तक ही नहीं मिली। पुस्तक खो जाने का मुझे बड़ा दु:ख हुआ। मैं जैसे ही ग्रंथालय में आती, उस गायब हुई पुस्तक का स्मरण हो आता जो मुझे व्याकुल कर देता। इसके लिए मैं स्वयं को दोषित मानती रहती। यही कारण था कि मैं सभी पर संदेह करती रही और सभी से क्रोधित रहा करती। समय के साथ पुस्तक भूल गई किन्तु क्रोध मेरा स्वभाव बन गया।” स्मिता क्षण के लिए रुकी। पानी पिया और आगे बोली, “संकेत, आज मैं उस दोष से मुक्त हो गई। मेरा मन बोज मुक्त हो गया। अब मैं सभी से हंस कर बात किया करूंगी। किसी पर क्रोध नहीं करूंगी। पुन: धन्यवाद तुम्हारा, सोम संकेत।” स्मित के साथ उसने मुझे वह पुस्तक दिया।
ग्रंथालय में हुई घटना मेरे मन में बस गई। ‘क्या एक पुस्तक मनुष्य का स्वभाव बदल सकती है? पुस्तक में इतना सामर्थ्य हो सकता है? किन्तु स्मिता ने तो इसे पढ़ा ही नहीं होगा। यदि पढ़ लेती तो? निश्चय ही इस पुस्तक में कुछ तो ऐसा है जो स्मिता को बदल सकती है, मुझे आकर्षित कर सकती है। मैं सीधा ही हॉस्टल पर चला गया। ‘बरसो प्रेम रस अनाराधार’ पढ़ने लगा। दो दिन में पूरी पढ़ ली। अगले सात दिनों में दो और बार पढ़ लिया। अब मुझे वह पुस्तक समज आने लगी, पसंद भी आने लगी। मुझे उसका नायक, उसकी कथावस्तु छूने लगी।
कथा नायक सुकेश एक लेखक है। उसकी कथाएं प्रेम कथाएं होती हैं। प्रत्येक कथा के अंत में पाठक को वह प्रेम करने को प्रेरित करता है। वह सभी लेखकों से अरज करता है कि यथा संभव अधिक से अधिक प्रेम कथाएं लिखें। लोगों को प्रेम मय बना दो। सब को प्रेम करो। माता-पिता, भाई-बहन, वृद्धों को, मित्रों को, पड़ोसियों को, स्त्री को, पुरुष को, शिक्षकों को, नेताओं को, साथियों को, गुंडों को, शत्रुओं को, परिचित को, अपरिचितों को, पंखियों को, प्राणियों को, प्रकृति को, चेतन को, जड़ को, साकार को, निराकार को, मानव मात्र को प्रेम करो, करते रहो। प्रेमरस बहेता रहे, अनराधार। इस जगत को प्रेम से भर दो। प्रेम को राज करने दो इस संसार पर।
अधिकांश लोग घृणा, द्वेष और तिरस्कार व्याप्त करते हैं। ऐसे में परिवार को, नगर को, समाज को, देश को और विश्व को सबसे अधिक आवश्यकता है प्रेम की। यह कार्य लेखक, कवि और कलाकार ही कर

सकता है। क्यूँ कि प्रत्येक कलाकार के भीतर संवेदना होती है। कथा के अंत में सुकेश एक ऐसे विश्व का सर्जन कर पाता है जहां प्रेम का ही साम्राज्य होता है।
पुस्तक का प्रभाव मेरे मन पर छा गया। मैं इस पुस्तक पर किसी के साथ बात करना चाहता था। किन्तु किससे करूँ? विचार करने पर मुझे स्मिता का स्मरण हो आया। मैं दौड़ गया स्मिता के पास।
"मुझे यह पुस्तक अधिक पसंद आया है। आप भी एक बार उसे पढ़ोगी तो …।" मुझे रोकते हुए स्मिता ने कहा, "मैंने यह पुस्तक अनेक बार पढ़ी है।"
"तो उस पर चर्चा करें?" मैंने प्रस्ताव रख दिया।
"मुझे चर्चा करना नहीं आता। मुझे तो बस पढ़ना अच्छा लगता है।" स्मिता ने मेरे उत्साह को ठंडा कर दिया। कुछ सोच विचार कर मैंने पूछा, "तो मुझे क्या करना चाहिए? मैं इस पुस्तक के विषय में किसी से बात करना चाहता हूँ। आप ही कहो किस के साथ यह संभव है?"
"किसी भी पुस्तक पर बात करने के लिए सब से उचित और उत्तम व्यक्ति उसी पुस्तक का रचयिता ही होता है। तू एक काम कर। इस पुस्तक में तिलोत्तमा का ठिकाना दिया गया है। उसे पत्र लिख डाल।"
"हाँ। तिलोत्तमा गौहाटी रहती है। मैं उसे आज ही पत्र लिखता हूँ। किन्तु..।" मैं रुक गया। मेरा उत्साह निरस्त होने लगा।
"संकेत, अब क्या हुआ?"
"यह पुस्तक तो 1977 का है। उस समय तिलोत्तमा वहाँ रहती होंगी। आज इकतालीस वर्षों के पश्चात भी वहीं रहती होंगी?"
"संभव है भी नहीं भी। मैं नहीं जानती। किन्तु यही एक मात्र मार्ग है।"
"ठीक है किन्तु एक और बात भी है। यदि हम अनुमान करें कि जब उसने यह पुस्तक लिखी होगी तब उसकी आयु तीस वर्ष की हो तो आज 71 वर्ष की होंगी। क्या वह अभी भी जीवित होगी?"
"तू पत्र लिख तो सही।" स्मिता अपने काम में व्यस्त हो गई। मैं मेरे कक्ष में लौट आया। तीन दिन में सात आठ पृष्ठों का पत्र लिखकर तिलोत्तमा के गौहाटी के ठिकाने पर भेज दिया। प्रतीक्षा करने लगा। समय बीतता गया। नई नई पुस्तकें पढ़ता रहा। तिलोत्तमा के प्रत्युत्तर की प्रतीक्षा करता रहा। और एक दिन मैं उसे भूल भी गया।
दिवाली के अवकाश से हॉस्टल में लौटने पर मेरे हाथ एक पत्र लगा। वह पॉन्डिचेरी से आई थी। कुमारी झरीना निकोलस की।
मैंने पुन: पढ़ा, ऊपर मेरा ही नाम लिखा था। वह पत्र मेरे ही लिए थी। किन्तु मैं किसी झरीना को तो जानता ही नहीं था। और वह भी पॉन्डिचेरी वाली झरीना?
हाँ। यही झरीना, कुमारी झरीना निकोलस जिसे मिलने के लिए मैं यहाँ तक आया हूँ। और उसके घर के द्वार पर थपकी लगाकर द्वार खुलने की प्रतीक्षा कर रहा हूँ।
किन्तु यह द्वार अभी तक खुला क्यों नहीं? भीतर झरीना होगी तो सही न? द्वार खुलेगा तो सही न? झरीना मुझे पहचानेगी तो सही न?

पुन: थपकी लगा दूँ?
मैंने पुन: थपकियाँ लगा दी। पुन: प्रतीक्षा करने लगा। पुन: प्रतीक्षा की ग्लानि आ जाए उससे पूर्व ही आपको उस पत्र की बात कर डालूँ।
झरीना ने लिखा था -
तिलोत्तमा अब गौहाटी में निवास नहीं करती। यहीं पॉन्डिचेरी में करती है। वे शिक्षिका थी। अब निवृत जीवन व्यतीत कर रही है। मैं और तिलोत्तमा घनिष्ठ मित्र हैं। तिलोत्तमा तुम्हें मिलने को उत्सुक है। कभी भी तिलोत्तमा को मिलने पॉन्डिचेरी आ जाओ।
पत्र पढ़ मैं प्रसन्न हुआ। मन ही मन पॉन्डिचेरी जाने का निश्चय कर लिया और आज वह पत्र मिलने के पाँच महीने पश्चात मैं झरीना के घर के सामने ही खड़ा हूँ। उसके घर के द्वार खुले उसकी प्रतीक्षा में हूँ। किन्तु यह द्वार अभी भी नहीं खुले थे। अभी भी झरीना आई न थी। अभी भी मैं तिलोत्तमा को मिल नहीं पाया था। मेरा धैर्य टूटने लगा। व्याकुल होकर मैंने द्वार पर जोर से दो चार बार पूरा हाथ ही मार दिया। इस बार इसका परिणाम आया। द्वार के उस पार कुछ कंपन होता लगा। क्षण में ही द्वार खुल गए।
द्वार से चोबिस पचीस वर्ष की एक यौवना निकली। मैंने मान लिया कदाचित यही झरीना होगी।
"मैं कुमारी झरीना निकोलस। आप?" मेरा अनुमान सत्य निकला।
"मैं? मैं संकेत सोम। तिलोत्तमा को मिलने कच्छ से..।"
"ओह। संकेत सोम? भीतर आ जाइए।" झरीना पीठ घुमाकर चलने लगी। मैं उसके स्वागत को पकड़कर उसके पीछे पीछे चलने लगा।
"यहाँ बैठो।" एक कुर्सी की तरफ संकेत कर वह चली गई। मैं तिलोत्तमा की प्रतीक्षा करने लगा।
'मित्र, तू तिलोत्तमा की प्रतीक्षा करे तब तक झरीना के विषय में कहे न? कैसी लगती है? उसका रूप, उसकी चाल, उसका सौन्दर्य, उसका स्मित, उसका यौवन। कैसा है यह सब?"
"आपने मुझे कहा? मित्र, मैं कह चुका हूँ कि यहाँ मैं झरीना को नहीं तिलोत्तमा को मिलने आया हूँ। आपको यदि झरीना में रुचि हो तो उसका ठिकाना मैं बता चुका हूँ। स्वयं यहाँ आकर मिल लीजिए झरीना से। जान लो उसके विषय में सब कुछ। किन्तु ऐसे काम के लिए आप मेरा उपयोग करें वह मुझे स्वीकार्य नहीं है।"
"किन्तु तुम इस प्रकार क्रोध मत करो। चलो छोड़ो झरीना को। तुम अपनी बात कहो कि आगे क्या हुआ।"
"ठीक है, सुनिए। स्वागत आदि के पश्चात झरीना ने कहा, "संकेत, घर के पीछे समुद्र है। वहीं बात करने में आनंद आएगा।" वह चलने लगी। मैंने उसका अनुसरण किया। रेत को पार कर हम आ पहुंचे समुद्र के शरण में।
समुद्र की लहरों में भीगने को मेरा मन हुआ। मेरे मन को जैसे पढ़ लिया हो वैसे झरीना ने प्रस्ताव रखा, "हम तट पर चलते हैं। अच्छा लगे तो लहरों में पैरों को भिगोते चलना। बातें तो करेंगे ही।"

“झरीना, समुद्र में भीगना मुझे पसंद है किन्तु मैं यहाँ...।” मैं अधीरता से कहने लगा। पुन: मेरे मन की बात पढ़ ली हो ऐसे बोली, “तिलोत्तमा को मिलने आए हो, यही न?”
“हाँ। किन्तु कहाँ है तिलोत्तमा?”
“संकेत, अधीर मत बनो। मैं तुम्हें तिलोत्तमा से मिलाने ही जा रही हूँ। तुम्हें मुझ पर विश्वास रखना होगा।” मेरे धैर्य की परीक्षा ले रक्षी हो ऐसे वह रुकी। मुझे देखने लगी। मैं मौन रहा।
“वे हमारे साथ ही है। प्रथम मैं तिलोत्तमा के विषय में कुछ बता दूँ। पश्चात उनसे मिलन भी करा दूँगी।”
“किन्तु कब?”
“बस मेरी बात पूर्ण होते ही। यह तट सम्पन्न होते ही...।”
“समुद्र का तट अनंत होता है। वह कभी सम्पन्न नहीं होता। तो क्या तिलोत्तमा को मिलने के लिए हम यूं ही जीवनभर चलते रहेंगे?” व्यंग भरे शब्दों से मैंने मेरी व्यग्रता प्रकट कर दी।
झरीना हंसी। चलने लगी। मैं मौन हो गया। समुद्र की उछलती लहरें भी तट पर आकर शांत होती रही। उन लहरों में मैं भीगता रहा।
हम कुछ समय चुपचाप चलते रहे। अंतत: झरीना ने ही मौन तोड़ा, “दस ग्यारह वर्ष पूर्व तिलोत्तमा यहाँ आकर बस गई। वर्षों तक गौहाटी में शिक्षक की नौकरी करने के पश्चात श्री अरविन्द के विचारों से प्रभावित हो उसने बाकी जीवन यहीं बिताने का निश्चय कर लिया। जब से वे यहाँ आई है तब से मेरी उनके साथ मित्रता है। तब मेरी आयु बारह तेरह वर्ष की रही होगी।” वह रुकी। मुझे देखते हुए मेरे मुख को पढ़ने लगी।
“मेरे इन शब्दों से मेरी आयु गिनना रहने दे। यदि तू उसमें उलझ गया तो तिलोत्तमा को कभी नहीं मिल पाएगा। चल मैं ही बता देती हूँ, मेरी आयु चोबिस वर्ष है।” वह मेरी आँखों में ही देख रही थी। मैंने पलकें झुका दी।
वह चलने लगी, कहने लगी, “तिलोत्तमा का व्यक्तित्व सबको पसंद आए ऐसा। वे सब पर प्रेम बरसाती। थोड़े ही समय में पॉन्डिचेरी के सभी लोग उन्हें जानने लगे। सब ने उन्हें एक उपनाम दे दिया - प्रेम अम्मा! दो वर्ष पूर्व उसका स्वास्थ्य गिरने लगा तो उनके उपचार का दायित्व मुझ पर आ पड़ा। वास्तव में तिलोत्तमा मेरी प्रथम व्याधित। व्याधित का अर्थ तो जानते हो न? दर्दी। रोगी। हाँ, मैं डॉक्टर हूँ। मैं उनका उपचार करने लगी। किन्तु दिन प्रतिदिन वे अधिक व्याधित होती गई। एक दिन तो मृत्यु को मिलकर भी आई। किन्तु अभी उनका आयुष्य शेष होगा इसलिए वे वहाँ से लौट आई। किन्तु अधिक दुर्बल हो गई थी। जैसे उनमें जीने की कोई इच्छा ही बची न हो ऐसा प्रतीत होता था।” वह रुकी, कुछ स्मरण करने लगी।
“उस समय, मुझे पक्का स्मरण है 15 अगस्त का दिन था। उसके मन में स्वतंत्रता दिन का उत्साह अपने चरम पर था। उसे तीव्र इच्छा थी स्वयं ध्वज वंदन करने की। किन्तु शरीर से विवश थी। और इसी कारण दु:खी भी।” वह रुकी। पीछे मुड़कर उसने संतुष्टि कर ली की मैं साथ साथ ही चल रहा हूँ। मैंने स्मित दिया, उसने भी। हम चलने लगे।

“उसी दिन तुम्हारा पत्र, गौहाटी होते हुए, मिला। उसने पत्र पढ़ा। पढ़ते पढ़ते उनके मुख के भाव बदलते रहे। एक नई ताजगी उसमें दिखने लगी।
तिलोत्तमा ने तुम्हारे उस पत्र को अनेकों बार पढ़ा। प्रत्येक बार उनमें नया उत्साह जन्मता गया। इसकी असर उनके स्वास्थ्य पर दिखने लगी। उनका शरीर सामान्य होने लगा। हमारे लिए यह चमत्कार ही था। तुम्हारे उस पत्र के लिए तुम्हारा धन्यवाद, संकेत!”
मैंने कोई प्रतिक्रिया नहीं दी। झरीना चुपचाप चलती रही। कुछ समय पश्चात बिना पीछे देखे ही वह बोली, “संकेत, मेरे धन्यवाद का कोई उत्तर नहीं मिला मुझे।”
“झरीना, मुझे समज नहीं आ रहा की मुझे धन्यवाद देने का क्या अर्थ है? मुझे धन्यवाद क्यूँ?”
“क्यूँ की तुम्हारे उस पत्र के द्वारा ही मैं जान सकी की तिलोत्तमा एक लेखिका थी। मैंने उसकी कई पुस्तकें पढ़ी थी किन्तु मैं नहीं जानती थी कि मैं जिस तिलोत्तमा को पढ़ चुकी थी वह तिलोत्तमा, लेखिका तिलोत्तमा अन्य कोई नहीं किन्तु यही है। उन्होंने कभी अपने लेखन के विषय में बात नहीं की थी। इतने वर्षों में उन्होंने कभी कोई कथा लिखी हो ऐसा भी मेरे ध्यान में नहीं है।”
“ठीक है, किन्तु…।”
“मैंने जब जाना तब मैं उनके साथ कथाओं पर चर्चा करने लगी। जैसे जैसे कथाओं की बात करते गए वैसे वैसे वह खुलती गई, खिलती गई। अपने रोग को भूलती गई।”
“आगे क्या हुआ?” मैं उत्सुक हो गया।
“एक दिन मैंने पूछ ही लिया कि अब कथाएं क्यूँ नहीं लिखतीं आप? उत्तर में उसने क्या कहा जानते हो?”
“नहीं। मैं कैसे जानता? क्या कहा था उन्होंने?”
“उसने कुछ नहीं कहा। बस एक नोटबुक और कलम लेकर बैठ गई लिखने के लिए। एक उपन्यास लिख डाला। हाँ संकेत, उन्होंने एक नया उपन्यास लिख डाला।” एक प्रवाह में बात कर रही झरीना के स्वर में आनंद घुल गया।
“क्या यह सत्य है? कहाँ है वह उपन्यास? मुझे उसे पढ़ना है।” मैं रोमांचित था।
“ये रहा वह उपन्यास।” झरीना मुड़ी और दो हाथों से अपनी छाती पर दबाकर रखी एक फ़ाइल मुझे धर दी। मैंने फ़ाइल ले ली और उनके पृष्ठों को पलटने लगा। यहीं खड़े खड़े ही उस उपन्यास को पूरा पढ़ लेने की झँखना जाग गई किन्तु मैंने उसे रोक लिया।
“ये लिखावट तिलोत्तमा की है?” मैं भाव विभोर था।
“नहीं। वह लेखनी मेरी है।”
मैंने फ़ाइल से हटाकर झरीना पर आँखें लगाई। उसके मुख पर नटखट भाव थे। होंठों पर चपल चंचल स्मित था। उसके बालों की एक लट उसके कान और गाल के मध्य झूल रही थी।
“तुमने तो कहा कि यह उपन्यास तिलोत्तमा ने लिखा है तो तुम्हारी लेखनी?”

“उलझ गया न संकेत? किन्तु हाँ, यह लेखनी मेरी ही है। तिलोत्तमा ने कथा प्रारंभ तो की किन्तु लिखते लिखते वो थक जाने लगी। दो दिन के पश्चात मैंने ही कहा कि आप बोलिए और मैं लिखती जाऊँगी। वेद व्यास और गणपती की भांति। उसे यह विचार पसंद आया। और उपन्यास रचाता गया।

“ओह.। यह बात है! आपकी लेखनी अति सुंदर है। किन्तु मुझे तिलोत्तमा की लेखनी पढ़नी है।”

“तो अंतिम पृष्ठ को पलट। वहाँ तिलोत्तमा ने अपने हाथों से कुछ लिखा है और नीचे अपने हस्ताक्षर भी किए हैं।”

सभी पृष्ठों को पलटकर मैं अंतिम पर आ गया। वहाँ मैंने कुछ लिखा था उसे पढे बिना ही नीचे लिखा नाम पढ़ा- तिलोत्तमा। मैंने उस नाम पर शीश झुका दिया। थोड़े समय तक भावविभोर हो गया। सागर, रेत, तिलोत्तमा, पॉन्डिचेरी, झरीना और इस जगत को भूल गया।

“झरीना, किन्तु तिलोत्तमा कहाँ है? मुझे उनसे मिलना है।” सहसा मैं पूछ बैठा।

“संकेत, तुमने अंतिम पृष्ठ पर लिखा है उसे पढ़ा नहीं?”

मैं सजग हो गया। मैंने तो केवल नाम ही पढ़ा था, लिखा हुआ नहीं।

“उसे पढ़ लो, संकेत। तुम्हारे सभी प्रश्नों के उत्तर वहीं मिलेंगे।”

मैं पढ़ने लगा,

‘मेरा यह उपन्यास मैं समर्पित करती हूँ एक अज्ञात पाठक को जिसका नाम है संकेत सोम। मैं उससे मिलने अधीर हूँ किन्तु मैं नहीं जानती कि वह कब आएगा। हो सकता है कि वह जब आए तब मैं इस संसार को छोड़ चुकी हूँ। और यदि नहीं आए तो?

तो मैं नहीं जानती। किन्तु यदि मेरे जाने के पश्चात वह कभी आए तो झरीना का दायित्व रहेगा कि वह उसे यह उपन्यास अपने हाथों से दे।

तिलोत्तमा।’

मैंने झरीना को प्रश्न भरी दृष्टि से देखा।

“यही तो है तिलोत्तमा।” उसने उपन्यास की ओर संकेत करते कहा।

“क्या अर्थ हैं इस बात का? यह तिलोत्तमा नहीं है। यह तो उनकी रचना मात्र है। कहाँ है तिलोत्तमा? मुझे उनके पास ले चलो।”

“किसी भी सर्जक का सर्जन ही उसका वास्तविक परिचय है। वही उनका व्यक्तित्व है। वही उनकी आत्मा है।”

“किन्तु मुझे इनके शरीर से मिलना है।”

“वह संभव नहीं है, संकेत।” झरीना प्रथम बार गंभीर हो गई।

“क्यूँ संभव नहीं?”

“क्यूँ कि वे इस जगत में ही नहीं है। उनकी मृत्यु हो चुकी है।” झरीना के स्वर में सागर की भीगी हवा जितनी हि आर्द्रता थी।

“कब? कैसे?”

“तुम तिलोत्तमा को मिलने आओगे ऐसी उन्हें आशा थी। तभी तो सदा इस उपन्यास को पूर्ण करने की शीघ्रता में रहती थी। वो कहती कि संकेत आए उससे पूर्व मुझे इसे पूर्ण करना है। उसके लिए मुझे भी रात रात जागना पड़ता। मैं जागती। जिस दिन उपन्यास पूर्ण हुआ, वो अधिक प्रसन्न थी। पश्चात वो तुम्हारी प्रतीक्षा करने लगी। समय बीतता गया किन्तु तुम्हारे आगमन के कोई संकेत नहीं मिले। धीरे धीरे वे निराश होने लगी। पुन: बीमार हो गई। स्वास्थ्य गिरता गया और आज से छब्बीस दिन पूर्व वे इस संसार को छोड़ कर चल बसी। मैंने अपना दायित्व पूरा कर दिया।”

मैं चौंक गया। आघात से कुछ भी बोल न सका। समुद्र के तट पर ही बैठ गया। आती जाती एक एक लहर में भीगता गया। मेरे और झरीना के मध्य समुद्र की घू घू के सिवा कुछ भी न था। समुद्र की पवन फ़ाइल के पृष्ठों को पलटता रहा। समुद्र उस पुस्तक को पढ़ रहा था जो संसार के किसी भी ग्रंथालय में, किसी भी पाठक के हाथों में नहीं था।

अस्तु।

[8] होगा नाम उसका विस्मय

उसने जाते जाते उत्तर में एक दृष्टि डालते हुए सबकी आँखों में देखा। अंत में उसकी दृष्टि मेरी आँखों में स्थिर हो गई। मेरी उसकी आँखों में।

मेरी आँखों में प्रश्न था और उसकी आँखों में था एक विस्मय! एक ऐसा विस्मय जिसे जगत भर में ढूंढो तो कहीं न मिले और वैसे प्रतिदिन दृष्टि के सामने ही मिल जाए।

“कौन था वह? क्या नाम था उसका?”

आपको भी उसके विस्मय में रुचि हो रही है? मुझे भी। तभी तो मैंने भी अधीरता से और उत्सुकता से उसे पूछ लिया था, “कौन है तू? क्या नाम है तेरा? तेरा परिचय क्या है?”

इन्हीं प्रश्नों के उत्तर में वह केवल विस्मय की एक तरंग मुझ ओर बहाकर दूर चला गया। मैं उसे जाते हुए देखती रही। मेरी पीठ पीछे बहता अरबी समुद्र अपना गीत गाता रहा। मैं घुटनों के बल रेत पर बैठ गई। अनायास मेरा हाथ रेत में गया। मुट्ठी भर रेत हाथ में ली। मुट्ठी बंद कर ली। सुखी रेत क्षण में ही हाथ से सरक गई और वह विस्मय मेरी आँखों से सरक कर मुंबई की भीड़ में विलुप्त हो गया।

विस्मय!
संभवत: उसका नाम विस्मय ही होगा। मुख पर बालक जैसा निर्दोष विस्मय जगाकर वह चला गया था। यह विस्मय मुंबई की भीड़ में मिलते चेहरों पर कभी नहीं दिखता। किन्तु वह इतना दुर्लभ भी नहीं है। भीड से दृष्टि हटाकर किसी भी बालक के मुख को देखोगे तो वहाँ वह खेलता, हँसता, नाचता, कूदता और आमंत्रित करता दिख ही जाएगा। किन्तु उस भीड़ से छुटकारा मिले तो न?
ऐसी ही किसी भीड़ में, उस विस्मय के मुख पर था वैसा ही विस्मय खो देने का भार लेकर कितने ही महान व्यक्तियों ने अपनी वेदना और लुप्त होती जाती संवेदना को शब्द, सुर, संगीत, विचार या अभिनय के द्वारा समय समय पर व्यक्त किया है।
कहीं बांये हाथ से रखे हुए बचपन को खो देने का अफसोस, तो कहीं पुन: उस बचपन को जीने की उमंग। कहीं निर्दोष उन क्षणों का स्मरण, कहीं पीछे छूट गए प्रसंगों और मित्रों को पुन: मिलने की तीव्र तृषा!
जैसे प्रत्येक सर्जक उस विस्मय को खोज रहा हो, पाने को यत्न कर रहा हो, उसके पीछे क्षितिजों तक दौड़ जाता हो और वह विस्मय उससे छलना करता रहता हो। ऐसी तीव्र और उत्कट भावनाओं की संवेदनाओं का पूरा समुद्र मैं पढ़ चुकी थी। मेर भीतर भी एक समुद्र उस विस्मय को पाने के लिए उछलने लगा। उनकी लहरें मेरे ह्रदय की दीवार पर टकराने लगी। अंतत: दीवार टूट गई। सारा का सारा समुद्र मेरे ह्रदय में व्याप्त हो गया। धमनियाँ, शिराएं, नसें, रक्त, स्नायु सब उसमें पिघल गया। बचा तो केवल विस्मय और विस्मय का समुद्र।
मेरे उस समुद्र को लेकर मैं दौड़ गई वास्तविक समुद्र के पास। मेरी और समुद्र की मित्रता। मुंबई में मेरा एक ही पुरुष मित्र- यह समुद्र!
आपकी, हाँ श्रीमान पाठक आपकी आँखों में मुझे नया विस्मय दिख रहा है। किन्तु वह निर्दोष नहीं है। सत्य कह रही हूँ न? मुझे आपके कपटी विस्मय से भय नहीं लगता। आपको मेरे पुरुष मित्र के साथ प्रणय को जानने की अपेक्षा है न? वो फिर कभी। अभी तो चलो उस विस्मय का ही आनंद लेते हैं।
मैं समुद्र तट पर बैठ कर उन सभी लेखों, कविताओं, कथाओं और फिल्मों को जी चुकी जो उन कलाकारों ने सर्जे थे। प्रत्येक में व्यक्त वेदना और तृषा मुझे पूरी वास्तविक लगी। मैं लंबे समय तक समुद्र के सम्मुख बैठ कर उस तृषा और वेदना में तपती रही, जलती रही। समुद्र की कोई तरंग मुझे उस अग्नि से शीतलता न दे सकी।
आँख बंद कर समुद्र की ध्वनि को सुनती देर तक बैठी रही। सहसा किसी ने मेरे कंधे पर हाथ रखा। वह समुद्र था। मेरा पुरुष मित्र!
"तेरी तृषा को मैं जानता हूँ। मेरी कोई भी तरंग उसे तृप्त नहीं कर सकती। तू एक काम कर।" समुद्र मेरे कानों तक झुका। मेरी कोई पृथक हो गई और हवा में उड रही लट को उसने कान के पीछे धकेला। मेरे कानों में कुछ कहकर वह चला गया। मेरे अधरों पर स्मित स्वत: प्रकट गया।

सूरज ढल गया। समुद्र में डूब गया। मेरा पुरुष मित्र भी समुद्र में एकरूप हो गया। सामने रह गया केवल अरबी समुद्र।

समुद्र ने कान में कही बात पर विचार कर मैंने अपनी दैनं दिनी के पृष्ठों पर लिखा-

क्या आप में अभी भी बालक जीवित है? कहीं न कहीं बचपन सांसें ले रहा है? घर के किसी अज्ञात कोने में पड़ा गीली डंडा सपने में आता है? कंचों का ध्वनि विचलित करता है? कोई खड़े खड़े खो देकर आगे आकर रुक जाता है तब आप किसी मधुर क्षण को पकड़ने दौड़ जाते हो? खो खो खेलते अकड़ूँ बैठे बैठे प्रतीक्षा कर रहे हो कि कोई आकर मुझे खो दे और मैं उठकर अपनी मनपसंद व्यक्ति को सबके सामने पकड़ लूँ। खेलते खेलते उसके स्पर्श की सुगंध हथेली में लेकर दिन भर सूँघता रहूं? लंगड़ी करते हुए भी किसी से तेज दौड़ सकता हूँ ऐसा सिद्ध कर उसे पकड़ लूँ? एक के ऊपर एक सात पत्थर सजाकर उसे गेंद के एक ही प्रहार से गिरा दूँ, छुप जाऊँ और पश्चात नजर बचाकर स्वयं ने ही गिराए हुए उन पत्थरों को पुन: उसी क्रम में सजा दूँ? गोल गोल घूमते लट्टू को हथेली में रखकर हस्त रेखाओं को देखते ही एक नि:श्वास उभर आता है कि कहाँ गई वह रेखाएं जो गाँव के तालाब की ओर दौड़ जाती थी? पेड़ पर चड़कर उसी की डाली पकड़कर नीचे तालाब में कूद जाती थी या आंबली पिपली बनकर जमीन पर आ गिरती थी वह क्षण कहाँ गई? पांच सात वृत्त बनाकर उसमें 'पिच्छु' फेंककर लंगड़ी दाव खेलते थे वह 'पिच्छु' कहाँ लुप्त हो गया?

ऐसा कुछ भी होता है? तो आ जाओ परिवार के साथ। इस रविवार। प्रात: सात बजे।

वही परिचित चौपाटी पर। अरबी समुद्र के सानिध्य में। कंचे, गीली डंडे, लट्टू, गेंद आदि जो भी है लेते आना। पुन: जाग जाएगा आपके भीतर का बालक।

आ रहे हो ना? तो मिलते हैं वहीं, इस रविवार। प्रात: सात बजे।

मेरी दैनं दिनी को बंद कर मैं दौड़ गई समुद्र को मिलने। लंबी प्रतीक्षा के पश्चात वह आया। मुझे अपने स्मित से भिगोता हुआ, अपनी सम्मति देता हुआ चला गया।

मैंने अपनी दैनं दिनी के वो पृष्ठ फेसबूक और अन्य सभी सामाजिक माध्यमों पर रख दिए। प्रतीक्षा करने लगी। रविवार को अभी पाँच दिन बाकी थे। मैं रविवार की तैयारियों में लग गई। अनेक बच्चों से मिलकर गीली डंडा, कंचे, लट्टू, गेंद, पिच्छु, सात पत्थर आदि जुटाने लगी।

फेसबूक पर मेरी इस पोस्ट पर दस हजार से अधिक लाइक और बारह सौ से अधीक टिप्पणियाँ थी। लोगों की अद्भुत प्रतिक्रियाओं से मैं अत्यंत रोमांचित हो गई।

खो चुके विस्मय वाले अनेक सर्जक मुंबई में ही रहते थे। उन्होंने मुझे व्यक्तिगत संदेश द्वारा मेरे इस आयोजन हेतु मेरा अभिनंदन भी किया। वे स्वयं भी वहाँ उपस्थित रहेंगे ऐसा आश्वासन भी दिया। उपरांत इसके अनेक कलाकारों, चिंतकों आदि भी अपनी उपस्थिति की सूचना दे चुके थे। मेरा उत्साह और उत्तेजना अपने चरम पर थे।

मैं दौड़ गई समुद्र के पास। समुद्र ने मेरी उत्तेजना को जान लिया था। मेरे उस मित्र में बड़ी विशेषता है मेरे मन को जान लेने की। वह मेरे सामने केवल हंसा। मुझे उसका हास्य गूढ प्रतीत हुआ।

*

रविवार आ गया। खड़ी खो, खो खो, पकड़ डाव, लंगड़ी, कंचे, लट्टू, गीली डंडा..। सब के क्रीड़ांगण तैयार थे। सभी सज्जता पूरी हो गई थी।
6.47. मेरी घड़ी ने समय दिखाया। बस अब प्रतीक्षा थी आनेवाले लोगों की। मैंने मोबाइल देखा। मेरे लिए अनेक सन्देश थे। मैं पढती गई। सभी संदेश समान से ही थे।
'अत्यंत सुंदर आयोजन है। मैं आना चाहता तो था/थी किन्तु मुझे फलाना काम आ गया है, अचानक कहीं बाहर जाना पड़ा है, स्वास्थ्य थोड़ा गिर गया है, कोई संबंधी रात्रि को गुजर गए हैं, आदि आदि। भात भात के बहाने बताकर आ नहीं पाएंगे उसका रोना रो रहे थे। हाँ, ऐसे आयोजन के लिए अभिनंदन और उसकी सफलता की कामना करना नहीं भूले थे। किसी किसी ने तो लिखा कि - दूसरी बार अवश्य उपस्थित रहूँगा/रहूँगी। इस बार क्षमा करना।
इतने सारे संदेश पढ़कर मैं हंसने लगी। 'कभी कोई समय दूसरी बार आता है कभी? मैंने समुद्र को देखा। उसकी उछलती तरंगों में व्यंग दिखा।
थोडे ही समय में लोग आने लगे, आते गए, जुडते गए। समुद्र के सामने एक नया समुद्र बनने लगा। एक भीड़ बनकर सभी खड़े थे।
7.11 का समय हुआ। मैंने भिड़ में कुछ परिचित व्यक्तियों को खोजने का यत्न किया, कोई नहीं मिला।
"यहाँ सलमा शोधन कौन है?" किसी ने मेरा नाम पूछा। मैं वहाँ दौड़ गई।
"मैं ही हूँ।" मैंने अपना हाथ बढ़ाया। उसने एक ऊष्मा से भरा हस्तधूनन किया। मुझे पसंद आया।
"मैं व्रजेश दवे विंड। आपने जिसका उल्लेख किया था उस उपन्यास - एक तितली को पंख मिली- मेरी ही रचना है।"
उसने अपना परिचय दिया, स्मित भी। मैंने उसे जान लिया। मैंने भी स्मित के साथ स्वागत किया। वह भीड़ की तरफ घूमे, उसमें घुस गए और भीड़ का हिसा बन गए।
कवि, लेखक, कलाकार, चिंतक के साथ जन सामान्य भी आ चुके। भीड़ बन गए। भीड़ का कद बढ़ गया। मैंने सब के आनन पढे। उनमें दिख रहे, छलक रहे भाव अपने से लगे। सब की आँखों में प्रतीक्षा की तरंगे लहरा रही थी। तो कुछ के मुख पर कौतुक और कुतूहल भी आसन जमा बैठे थे।
"चलो, सब साथ मिलकर बचपन के विस्मृत हो गए खेलों को आज पुन: खेलते हैं।" मैंने सब को आमंत्रित कर दिया।
भीड़ जीवंत हो गई, प्रवाहित हो गई। भिन्न भिन्न दिशाओं में, सभी खेलों की तरफ बिखर गई। कवि, चिंतक, कलाकार भी अपने अपने खेल की तरफ मूड गए। कुछ अभी भी दुविधा में थे कि कौन सा खेल पसंद करें। वे इधर से उधर भटक रहे थे।
सभी खेल के पास भीड़ थी। क्रीड़ांगण के किनारे तक आकर खड़ी रह गई थी। कोई भीतर प्रवेश नहीं कर रहा था। मेरे साथी सज्ज थे, प्रतीक्षा कर रहे थे खिलाड़ियों की। सभी को आमंत्रित कर रहे थे, सभी का आहवान कर रहे थे। क्रीड़ांगण में उतरने के लिए उत्साहित कर रहे थे। किन्तु कोई भी व्यक्ति किसी भी

खेल के क्रीड़ांगण में उतर नहीं रहा था। सभी दूसरों को देख रहे थे। कौन पहले क्रीड़ांगण में उतरे उसकी प्रतीक्षा कर रहे थे।

‘क्यूँ कोई भी खेलने को नहीं आ रहा?’ मेरे भीतर एक प्रश्न जन्मा। भीड़ के चेहरे को देखकर उस प्रश्न का उत्तर ढूँढने का प्रयास करने लगी। कोई विशेष फल नहीं मिल पाया।

‘क्या रोकता होगा इन लोगों को खेल खेलने से? उनकी आयु? उनका पद? उनकी प्रतिष्ठा? क्या बालक बन जाने से या खेल खेलने से आयु विद्रोह कर देगी? पद और प्रतिष्ठा मलिन हो जाएगी?’

मुझे कुछ भी समज नहीं आया।

‘क्या ये लोग खेलने ही आए हैं? या तमाशा देखने?’ मैं निश्चय नहीं कर पाई। मन तो हुआ कि दो चार के हाथ पकड़ कर पूछ ही लूँ। किन्तु मैंने टाल दिया। मन तो यह भी हुआ कि सभी के हाथ पकड़ कर खींच जाऊं क्रीड़ांगण पर और ले जाऊं उनके बालपन की दुनिया में। मैंने वह विचार भी टाल दिया।

‘उन के मन पर जमी परतों को वे स्वयं ही हटा दे तो ही उचित होगा। तू उसे तोड़ने का प्रयत्न ना कर। यदि उनके मन में कहीं, किसी भी कोने में कोई बालक खेलता होगा, जीता होगा तो वे स्वयं ही उसे बाहर लाकर आएंगे। तेरे हाथ पकड़ने से ये लोग नहीं आएंगे।’ पुरुष मित्र समुद्र ने मुझे रोका।

मैं व्रजेश दवे विंड कि तरफ मुड़ी। “आपने तो अपने उपन्यास में बालक बन जाते ‘वेद’ के चरित्र का सर्जन किया है। तो आप भी आज बालक बन जाओ न?”

“वेद का चरित्र अदभूत है किन्तु, मैं नहीं कर पाऊँगा।”

“क्यूँ?” मुझे अचरज हुआ।

“सर्जन करना एक बात है और उस चरित्र को जीना भिन्न बात है।” वह अपने ही शब्दों से विचलित हो गए। दो चरण पीछे हट गए। लज्जित हो गए। दंभ का पर्दा फट गया। यही स्थिति कवि, कलाकार और चिंतकों की थी। मुझे उन सब पर दया आ गई।

कितने गरीब हैं यह सब!

मैं उन सभी को छोड़ एक कोने में जा कर खड़ी हो गई। समुद्र को ताकती रही। अनायास ही तट की तरफ मुड़ी। मेरे हाथ में सात पत्थर और गेंद थी। मैं तट पर बैठ गई। पत्थरों को एक के ऊपर एक सजाने लगी।

पत्थर ठीक से नहीं सज रहे थे। कभी चौथे तो कभी पांचवें पत्थर तक सजा देती किन्तु गिर जाते थे। मैं अपने पर ही हंसने लगी।

‘समय लगेगा किन्तु हो जाएगा। अभ्यास छूट गया है न इसी लिए। प्रयास करती रहे, हो जाएगा।’ मेरे भीतर के स्वर को सुनते हुए मैं प्रयास करने लगी। अंत में सफल हुई। सातों पत्थर एक दूसरे पर उचित रूप से सज गए।

मेरे हाथ में गेंद थी। मैं दस बार चरण पीछे हटी और पत्थर पर मारने के लिए की ध्यान केंद्रित कर ही रही थी कि समुद्र की एक बड़ी तरंग आ गई और सारे पत्थरों को गिराती हुई समुद्र में विलीन हो गई। मुझे उस पर क्रोध आया। एक तीखी दृष्टि समुद्र पर फेंकी।

समुद्र हँसते हँसते कहने लगा, “यह खेल कोई अकेला अकेला खेलता है क्या? तूने मुझे नहीं पुकारा? मेरा स्मरण क्यूँ नहीं किया? तुझे गेंद मेरे हाथ में देनी थी। किन्तु तू तो स्वयं ही गेंद लेकर खेलने लगी। मैं इसे कैसे सह पाता? मेरे पास गेंद नहीं थी तो मैंने तरंगों से उसे गिरा दिया। कैसी रही?” और जैसे ताली बजाता हुआ, प्रसन्न होता हो वैसे दूसरी एक तरंग मुझे छूती हुई समुद्र में समा गई।
मैं खिलखिलाकर हंस पड़ी। मेरे भीतर छिपा हुआ बच्चा बाहर आ गया। मुझे अच्छा लगा। मैं पुन: पत्थरों को सजाने लगी। इस बार तट से थोड़े अंतर पर थी मैं। मैं समुद्र को चुनौती देना चाहती थी कि पत्थरों को गिराने के लिए वह कितनी दूरी तक आता है? वह आया। पत्थरों को गिरा गया। दो तीन बार ऐसा हुआ। वह दूर दूर तक आता गया। मुझे आनंद आया उसके साथ खेल खेलने का। मैं अत्यंत प्रसन्न थी। मैंने और एक बार तट से अधिक दूरी पर पत्थर सजाए। समुद्र की तरंगों की प्रतीक्षा करने लगी। समय चलता रहा। किन्तु समुद्र की एक भी तरंग वहाँ तक नहीं आई। मैं निराश होने लगी। समुद्र पर क्रोध करने लगी। मुझे खेलना है किन्तु मित्र खेलने के लिए आता ही नहीं। कैसा मित्र है यह?
“तुझे खेलना नहीं है तो जा तेरी किट्टा। नहीं बोलूँगी तेरे साथ।” मैं रेत पर बैठ गई। मुझे रोना आ रहा था। मैं आँख बंद कर रोने लगी। मैंने आंसुओं को बहने दिया। गाल पर से बहते हुए वे उन पत्थरों को भिगो रहे थे। पत्थर भी जैसे मेरे साथ रो रहे हो!
मित्र तो वही सच्चा जो मित्र के साथ रो ले। ये पत्थर, पत्थर होते हुए भी मेरे साथ रो रहे थे और वह मित्र समुद्र जो पूरा का पूरा किसी के अश्रुओं से खारा हो गया है वह न तो मेरे साथ खेल रहा है न ही मेरे साथ रो रहा है। पानी से भरपूर समुद्र से तो वे सात पत्थर कितने संवेदना से पूर्ण थे!
मैंने समुद्र की घू घू पर कान लगाए। मुझे उनमें कहीं भी रुदन नहीं सुनाई दिया। मुझे कुछ टुटने का, कुछ फूटने का स्वर सुनाई दिया। मैंने आँखें खोली।
मेरे सामने पड़े सातों पत्थरों को किसी ने गेंद मारकर गिरा दिए थे। चार पाँच फिट दूर किनारे पर एक गेंद पड़ी थी। मैंने घूमकर देखा।
एक युवक गिरे हुए पत्थरों की तरफ आ रहा था। उसके हाथ में दो तीन गेंदें और थी। उसके मुख पर बाल सहज भाव थे। विस्मय था। उसका आशय स्पष्ट था। वह मेरे साथ खेल खेलना चाहता था। मुझे अच्छा लगा।
हम दोनों कुछ भी नहीं बोले। बस, खेलने लगे। मैं पत्थर सजाती तो वह उसे गिरा देता और जब वह सजाता तो मैं गिरा देती। कुछ समय हमने वह खेल खेला। पश्चात कितने ही खेल खेले। मन भर हम खेलते रहे।
समुद्र, रेत, तट, तट पर तमाशा देखने खड़ी भीड़..। हम सब कुछ भूल गए। केवल विविध खेल खेलते रहे। लड़ते रहे, किट्टा करते रहे, मित्रता करते रहे। बस कुछ भी बोले बिना खेलते ही रहे। खेलते खेलते थक गए। लोटपोथ हो गए। रेत पर गिर पड़े।
जब थकान मीट गई तब खेल और बालपन का नशा उतरा। वह उठा, चलने लगा। मैंने अधीरता से और उत्सुकता से उसे पूछ लिया था, “कौन है तू? क्या नाम है तेरा? तेरा परिचय क्या है?”

हमारे मध्य ये प्रथम बोले हुए शब्द थे। वह अभी भी मौन ही रहा। बिना उत्तर दिए ही वह जाने लगा। मैं दौड़ गई। उसका हाथ पकड़ लिया। मेरे मुख के प्रश्न के उत्तर में उसके आनन पर उभर आया एक विस्मय!

हाँ, वही विस्मय जिसे जगत भर में ढूंढो तो कहीं न मिले और वैसे प्रतिदिन दृष्टि के सामने ही मिल जाए। ऐसा विस्मय जिसे हम कविताओं में, कथाओं में, फिल्मों में और चिंतकों के आलेखों में खोजते रहते हैं।

वह ऐसा विस्मय देकर खो गया मुंबई की भीड़ में। और मैं रह गई समुद्र तट पर अकेली, बिल्कुल अकेली।

उस तरफ एक भीड़ अभी भी खड़ी थी। उनमें से सब के हाथ में मोबाईल थे जो समय और संवेदनाओं को बंदी बनाने में व्यस्त थे। उस भीड़ में व्रजेश दवे भी था। वह संवेदनाओं को कागज पर उतार कर नया दंभ रच रहा था। मेरे भीतर उस पर खुन्नस उभर आया। मैंने उसके हाथ से कागज और कलम छिन लिया। भीड़ की चिंता किए बिना ही मैं तरंगों की तरफ भागी। कागज फाड़ डाला। टुकड़े टुकड़े कर दिए। और कलम के साथ उसे बहा दिया समुद्र में।

मैं उदंड बालक की भांति समुद्र की तरंगों के साथ कूदने लगी, हंसने लगी। मेरे साथ समुद्र भी कूदने लगा।

मेरे प्रत्यक्ष था समुद्र। मेरा मित्र। पुरुष मित्र नहीं, केवल मित्र। और मेरी आँखों में उड़ता हुआ वही विस्मय आकर बैठ गया।

अस्तु।



सम्पन्न